chapter-3

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

(i) आठवें और नवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ तथा उनका पारिवारिक जीवन

(ii) आठवें दशक से पूर्व के उपन्यासों में परिवार

(iii) विभिन्न स्तरों पर पारिवारिक वर्गीकरण : कामकाजी महिलाएँ, महिलाएँ कामकाजी क्यों, समाज का विकसित दृष्टिकोण, कामकाज का मध्यवर्गीय जीवन पर प्रभाव, कामकाजी महिला का पारिवारिक जीवन पर प्रभाव।

(iv) 1971 से 1990 तक के उपन्यासों में परिवार

(i) आठवें और नवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ तथा उनका पारिवारिक जीवन

उपन्यास साहित्य का एक आधुनिक प्रकार है और समाज में निहित सारे न्याय, अत्याचार, विषमता, विसंगतता, विद्रूपता आदि से इसके द्वारा लड़ा जा सकता है। वस्तुतः शोषकों के खिलाफ एक जिहाद छेड़ी जा सकती है और कुछ उपन्यासकारों ने छेड़ी भी है – प्रेमचंद, जैनेन्द्र, रेणु, नागार्जुन, प्रभृति आदि को हम गिना सकते हैं।

भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, मनु शर्मा आदि भी प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की परम्परा के उपन्यासकार हैं। इस समूचे युग में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उपन्यास बड़े अच्छे ढंग से लिखे गए।

सन् 1950 के आस–पास हिन्दी में आँचलिकता का आन्दोलन आया। इसे औद्योगिक और नगर सभ्यता के विरोध में प्रारम्भ किया गया था। किन्तु भारत में एकरसता के अभाव के कारण हिन्दी में यह आन्दोलन आरोपित नहीं है, बल्कि भारतीय संस्कारों से यह आन्दोलन उत्पन्न हुआ है।

''सन् 1950 के आस–पास तक देश की समस्याएँ अलग हो गई थीं। स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थी, देश का विभाजन हो चुका था। विभाजन के परिणामस्वरूप जन एवं धन की भारी हानि हुई। देश नवनिर्माण में लगा हुआ था। ऐसे में इन स्थितियों को लेकर अनेक उपन्यास लिखे गए। जैसे अज्ञेय ने 'नदी के दीप' तथा भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आदि। नवलेखन की प्रायः सभी विधाएँ आँचलिकता एवम् ग्राम–बोध की ओर उन्मुख हुईं। जिससे उनमें ताज़गी आ गई।''[1]

''सन् 1960 के आस–पास हिन्दी उपन्यास की आधुनिक दृष्टि व्यक्ति के यथार्थ–जीवन, उस जीवन की जटिलता, उलझन तथा भोगी और झेली हुई अनुभूतियों के कारण अलग हट गई। सन् 1961 में मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' प्रकाशित हुआ। जिसमें मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण हुआ है, जिसमें उपन्यास की पुरानी परम्परा तोड़ दी गई।''[2]

''सन् 1980 और 1990 तक का दशक भारत की सामाजिक परिस्थितियों में गहन उथल–पुथल और अराजकता का दशक है। इस दशक के प्रारम्भ में काँग्रेस की सत्ता का जब दूसरी बार उदय होता है तब सामाजिक न्याय का नारा बुलन्द होता है। इसमें पिछड़ों और दलितों के उत्थान की बात कही गई है। इसलिए समाज केवल आर्थिक परिवर्तन की ओर अग्रसर नहीं होता, बल्कि वह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की ओर भी अग्रसर होता है। आरक्षण के माध्यम से उनमें नये अवसर प्रदान करने की चेतना जाग्रत करती है। जिससे वर्ग संघर्ष की भावना जागृत हुई।''[3]

''साठोत्तर उपन्यासों में नया समाज, नया जीवन, नए मूल्य और उन मूल्यों के परिणामस्वरूप उनसे पैदा होने वाले बदलावों को बताया गया। पुराने मूल्यों के सामाजिक बंधन में बँधा हुआ व्यक्ति स्वच्छन्दता के प्रति जागरुक हो गया था। धर्म का विश्वास टूटने लगा था।''[4] विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण मंत्रीकरण और औद्योगिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। परिणामतः हस्तशिल्प का ह्रास हुआ। उसका स्थान बड़ी मशीनों एवं कल–कारखानों ने ले लिया। इस प्रकार बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। परिणामतः पारिवारिक विघटन प्रारम्भ हुआ । परिवार की सोच बदल गई। परिवार केवल पति–पत्नी और बच्चों तक सीमित रह गया। घर की चारदीवारी में बंद नारी बाहर निकलने लगी। नारी के चुल्हे–चौके तक रहने की अवधारणा टूट गई। वह स्वतंत्र हो गई। इन सब स्थितियों का प्रभाव साठोत्तर उपन्यास पर पड़ा और पुराने मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई।

''घर, परिवार टूटने और धार्मिक आस्था के प्रति विखंडन का गहरा सामाजिक और वैयक्तिक प्रभाव पड़ा। बराबरी और प्रतिस्पर्धा की मनः स्थिति ने नारी को विद्रोही बना दिया। परिणामतः सेक्स के स्तर पर नारी और पुरुष के बीच कुण्ठा उत्पन्न हुई। नए–नए सम्बंध बनने लगे। इन सबका प्रभाव साठोत्तर उपन्यासों में देखा जा सकता है।

सामाजिक विस्तार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का भी प्रभाव भारतीय जन पर पड़ा। व्यक्ति खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, आहार–व्यवहार में भी विदेशी घर को अपनाने लगा। इस तरह साठोत्तर हिन्दी उपन्यास व्यक्ति के बदलते हुए स्वभाव का निरूपण है। इन सबका प्रभाव साठोत्तर उपन्यासों में देखा जा सकता है। मोहन राकेश का 'अंधेरे बँद कमरे', नरेश मेहता का 'यह पथबंधु था', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' तथा 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', ममता कालिया का 'बेघर', मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप' आदि उपन्यासों में आज की मानवीय स्थितियों का खूब चित्रण हुआ है।''[5]

स्वतंत्रता के बाद और 8वें, 9वें दशक के पश्चात् देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों में जितनी तेजी से परिवर्तन आया है उससे नारी को घर से बाहर निकलने, शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वयं को अभिव्यक्त करने के विपुल अवसर मिले हैं। बढ़ती महँगाई के कारण परिवार की आवश्यकताएँ प्रायः एक व्यक्ति की आय से पूरी नहीं हो पातीं। तब आवश्यकता पड़ती है, एक अन्य अर्जक सदस्य की। वह सदस्य पुरुष हो, ऐसा अनिवार्य नहीं, हालाँकि स्वतंत्रता से पूर्व प्रायः यही समझा जाता था। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना तथा बढ़ते हुए आर्थिक दबाव ने नारी तथा समूचे समाज के चिंतन को परिवर्तित किया है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी के साथ–साथ पुरानी पीढ़ी भी नारी के कामकाजी होने की पक्षधर है। कामकाज को लेकर किसी पीढ़ी की अपनी प्राथमिकताएँ या शर्तें नहीं हैं। जो भी नौकरी मिले, उसे सहज भाव से स्वीकार कर लो – यह सिद्धान्त उन पर प्रायः हावी रहता है। इसलिए विवाहित–अविवाहित महिलाएँ तथा नवजात शिशुओं की माताएँ भी कमर कसकर पुरुषों की अर्जन दुनिया में आ खड़ी हुई हैं। स्पष्ट है कि महिलाओं के अर्थोपार्जन के मूल में उनकी व परिवार की सहमति न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य होती है।

''नौकरी अर्थात् कामकाज के साथ आर्थिक कारण अवश्य जुड़ा हुआ है। आर्थिक कारण को आधार बनाकर कामकाज करने वाली महिलाओं को दो भागों में बाँटा गया है।

(1) आर्थिक विवशताएँ

(2) आर्थिक स्वतंत्रता की चाह

इस प्रकार प्रथम वर्ग की महिलाओं में जहाँ पारिवारिक व सामाजिक दायित्वों तथा व्यक्तिगत अपेक्षाओं को पूरा करने हेतु धनोपार्जन की आवश्यकता प्रबल है, वहीं द्वितीय वर्ग की महिलाओं में मनोवैज्ञानिक कारण अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय है।''[6]

आर्थिक विवशताएँ:

(क) परिवार में पिता की भूमिका:

आज की नारी प्राचीन नारी से इस अर्थ में भिन्न है कि वह न तो राशन–पानी जुटाने गए पुरुषों की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे चिंतित–सी बैठी रहती है, और न उस द्वारा उपाजित अत्यल्प धनराशि से गुजारा करने के लिए अपनी व परिवार की आवश्यकताओं को संकुचित करती है। पुरुष के झुके कंधों व थके कदमों को सहारा देने के लिए वह स्वयं अर्थोपार्जन के क्षेत्र में कूद पड़ी है। यदि दुर्भाग्यवश पिता या पति काम करने की स्थिति में न हों तो नारी सुलभ कमनीयता को भुलाकर वह स्वयं पिता अथवा पति की भूमिका का निर्वाह करने लगती है।

'' 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा ने भी यौवन की सहज माँग व आकर्षण को भुलाकर असमय दायित्वों को ओढ़ लिया है। रिटायर्ड पिता पक्षाघात से पीड़ित है। दो छोटी बहनें व भाई पढ़ रहे हैं। अतः अपने भविष्य को सँवारने के प्रयास में वह कैसे उन सबके भविष्य को मँझधार में छोड़ दे। कमाऊ बेटी जब परिवार के पोषण का दायित्व अपने कंधों पर लेकर पुत्र की भूमिका में उतरती है तो माता–पिता प्रायः स्वार्थी हो जाते हैं और उसकी ओर से निश्चिंत भी। सुषमा की माँ सुषमा के ढलते यौवन और कौमार्य को देखकर चिंतित नहीं है। चिंतित है, यौवन की दहलीज पर खड़ी छोटी बेटी नीरु के विवाह को लेकर। यह अहसास सुषमा के भीतर पीड़ा की सृष्टि करता है। उसे लगता है कि वह पैसा कमाने की मशीन मात्र बनकर रह गई है।''[7] विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ना उसे सम्भव नहीं जान पड़ता। परिवार के लिए अपने आप को मिटा देने का भाव कामकाजी महिला के लिए परिचितों में सम्मान व प्रशंसा अर्जित करता है, तो कई बार उसे 'बेचारी' दया का पात्र भी बना देता है। सुषमा की मौसी सुषमा के त्याग की भूरि–भूरि प्रशंसा करते नहीं थकती है, सुषमा ने तो भाई–बहनों के कारण अपने को मिटा दिया है।

पिता के जीवित रहते हुए भी परिवार को पालने की जिम्मेदारी 'दो लड़कियाँ' की रंजना पर है। वह स्वयं कहती है – 'मैं किसी शौक को पूरा करने के लिए या फैशन पूरा करने के लिए नौकरी नहीं करती। मैं काम इसलिए करती हूँ कि घर की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ। परिवार के लोगों को दोनों समय का भोजन मिल सके।''[8]

कई बार परिवार के अस्तित्व–रक्षण के लिए कामकाज करने वाली महिला देह के स्तर पर की जाने वाली सौदेबाजी स्वीकार करने को विवश है। यह सौदेबाजी एक ओर उसकी योग्यता का अपमान है, तो दूसरी ओर उसके शोषण का प्रमाण भी। मुख्य कारण है पेट की भूख, भौतिक सुविधाओं की चाह जिसने नैतिकता के तमाम अंकुशों तथा प्रतिमानों की धज्जियाँ उड़ाकर सही गलत पर एक सा आवरण डाल दिया है। इसलिए इस सौदेबाजी के लिए पुरुष जितना तत्पर है, उतनी ही तत्पर महिला भी है और कई बार उसका परिवार भी। '' 'छाया मत छुना मन' की विमला खाद्य–मंत्रालय में स्टेनो का पद प्राप्त कर लेती है, किन्तु इसी उपन्यास की वसुधा को अपना नारीत्व दाँव पर लगाकर नौकरी पाना अभीष्ट नहीं। वसुधा जानती है उसके चिररोगी पिता का परिवार में किसी निष्प्राण वस्तु से अधिक महत्व नहीं। अतः ज्येष्ठ संतान होने के कारण पिता का स्थान उसे ही लेना है। साथ ही धनलोलुप माँ की धन–पिपासा भी शान्त करनी है जो उससे मात्र इसलिए चिढ़ी रहती है कि 'वक्त को पहचानकर चलने की सामर्थ्य' वसुधा में क्यों नहीं।''[9] वह सब–कुछ जानते–बूझते हुए भी वसुधा को फोटोग्राफर खन्ना के पास जाकर काम माँगने को कहती है। वसुधा काम पाने की आशा में एक बार, एक बार नहीं – तीन बार जाती है। लेकिन हर बार खन्ना का एक ही प्रस्ताव, एक ही आदेश। कहता था– ''तुम्हें सारे कपड़े उतारकर फोटू खिंचवानी पड़ेगी।''[10] एक ऐसा प्रस्ताव जो माँ को स्वीकार्य है, वसुधा को कदापि–कदापि नहीं। यह स्थल वसुधा की चारित्रिक दृढ़ता तथा विद्रोह को उजागर करने के लिए पर्याप्त है।

वसुधा की भाँति 'पतझड़ की आवाजें' की अनुभा भी शरीर को माध्यम बनाकर नौकरी या पदोन्नति पाने की पक्षधर नहीं है, किन्तु दोनों में एक अन्तर है। वसुधा की पारिवारिक परिस्थितियाँ जहाँ उसके हठ को मुरमुरा कर देती है, ''वहीं अनुभा में यह हठ तीव्रतर हो जाता है और वह नौकरी करके परिवार के आर्थिक स्त्रोत को बढ़ाना चाहती है, किन्तु देह के मूल्य पर नहीं। अतः उसे कई बार नौकरी से हाथ धोना पडता है।''[11] स्पष्ट है कि पारिवारिक दायित्वों को निभाते–निभाते पुत्री से साधन बन जाने वाली महिलाएँ

आत्म–निर्भर होते हुए भी उस राशि को अपनी इच्छानुसार खर्च करने को स्वतंत्र नहीं होतीं, न अपने भविष्य के प्रति सोचने तथा कोई निर्णय लेने को।

इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवार में पिता द्वारा अर्थोपार्जन न करने के कारण ज्येष्ठ पुत्री को ही पिता के सम्पूर्ण दायित्व निभाने पड़ते हैं।

(ख) परिवार में पति की भूमिकाः

अविवाहित महिलाओं की भाँति विवाहित महिलाओं को भी अपने परिवार, ससुराल पक्ष तथा संतान के पोषण हेतु मुख्य भूमिका निभानी पड़ती है। इनमें प्रायः विधवा, तलाकशुदा तथा स्वेच्छा से पतिगृह छोड़ने वाली महिलाओं को लिया जा सकता है।

पति की आकस्मिक मृत्यु से परिवार में आय के स्त्रोत तो समाप्त हो ही जाते हैं, पत्नी भी स्वयं को निराश्रित अनुभव करने लगती है। उसके सामने दो विकल्प रहते हैं – ससुराल में रहकर पति के दायित्व स्वीकारें, या स्वतंत्र रहकर अपने भविष्य को अपनी इच्छानुसार कोई दिशा दे। दोनों स्थितियों में उसे कामकाज करना पड़ता है।

ससुराल के सदस्यों के पोषण का दायित्व चाहे विधवा अपने ऊपर न समझे, लेकिन संतान के लालन–पालन के दायित्व से वह मुँह नहीं मोड़ सकती। अतः माँ के साथ पिता की भूमिका का निर्वाह भी उसे करना पड़ता है। 'अपने पराए' की नीलिमा की माॅ इसका उदाहरण है।

अर्जन में सहायिकाः

पुरुष की अर्जक भूमिका में उतरकर कामकाजी महिलाएँ जहाँ परिवार का पोषण करती हैं, वहीं सहायक की भूमिका भी निभाती हैं। इस भूमिका में उनके कामकाज का ध्येय परिवार के लिए दो जून रोटी का जुगाड़ करना नहीं होता, अर्जक पुरुष को राहत पहुँचाना होता है। परिणामस्वरूप परिवार में इनका स्थान मुखिया का नहीं होता, सहायक का होता है।

परिवार में अस्तित्व रक्षण के साथ–साथ समाज में परिवार के जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी महिलाएँ प्रायः सहायक अर्जक की भूमिका निभाती हैं। '''अंधेरे बंद कमरे' में हरबंस थीसिस पूरी करने के सिलसिले में लंदन गया है। वहाँ वह पढ़ाई के साथ हाई कमीशन में छोटी–मोटी नौकरी भी करता है। बी.बी.सी. पर कार्यक्रम देकर भी थोड़ा–बहुत धन कमाता है। जल्दी ही उसकी हाई कमीशन की नौकरी छूट जाती है। इससे उनकी आर्थिक अवस्था खराब हो जाती है। घर–खर्च चलाने के लिए नीलिमा को 'बेबी सिटिंग' करनी पड़ती है।''[12]

(ख) आर्थिक स्वतंत्रता की चाहः

कामकाज के जरिए आर्थिक स्वतंत्रता पाने के मूल में निस्संदेह आर्थिक कारण होता है। साथ ही, इसमें सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कारण भी सक्रिय रहते हैं। परिवार की सुख–सुविधाओं को ध्यान में रखना तथा समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए तथा नारियों पर हो रहे अत्याचार, जुल्मों से मुक्ति पाने के लिए स्त्रियों ने कभी पारिवारिक दबाव के कारण तो कभी अपनी मर्जी से कामकाज (नौकरी) करने की राह चुनी। नौकरी करने से इन्हें दो लाभ अवश्य हुए हैं, एक इन्हें अपनी नौकरी की उपयोगिता का भान हुआ है और दूसरे, इनका आत्मविश्वास बढ़ा है। आधुनिक बोध के कारण आज की नारी में स्वाभिमान तथा आर्थिक स्वावलम्बन का भाव अधिक आया है। लेकिन आर्थिक स्वावलम्बन के लिए वह पारिवारिक दायित्वों एवं सम्बंधों से मुक्त नहीं होना चाहती। वह समाज में एक निश्चित स्थान तथा परिवार में एक अलग अस्मिता बनाए रखना चाहती है। 1960 के पहले समाज व साहित्य में यह प्रवृत्ति अनुपलब्ध थी।

आठवें दशक से पूर्व के उपन्यासों में परिवारः

साहित्य में आधुनिकता की परिस्थिति जीवन में आधुनिकता की परिस्थिति से कुछ भिन्न नहीं है। तथापि इसे स्वीकार करने में कोई असंगति नहीं है कि कहीं–कहीं इनमे भिन्नता भी आ जाती है। इसका मुख्य कारण जीवन का आगे निकल जाना है और साहित्य का पिछड़ जाना। ऐसा प्रायः तभी होता है, जब सर्जनात्मक क्षण पर सर्जक का अधिकार शिथिल हो। इस स्तर पर आधुनिकता प्रायः दब जाती है और वादगत भूमिकाएँ उभर आती हैं। मूल्यों के द्वन्द्व की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है और रचनाकार का संघर्ष एक निश्चित प्रमाण से सम्बद्ध होकर संकुल एवं संकुचित हो जाता है। जीवन इसी बीच आगे निकल जाता है, क्योंकि वह व्यापक स्तर पर सृजनशील होता है। उसकी मुद्रा तीर्व एवं गतिशील होती है, जबकि साहित्य

उसकी किसी एक मुद्रा को ही अंतिम और निर्णायक मानकर उसे निश्चित अर्थ देने लगता है। समूचा साहित्य ऐसा नहीं होता क्योंकि सर्जनशील कथाकार अथवा रचनाकार गतिशील जीवन की मुद्रा का सहकर्मी होता है और यह आधुनिकता के अस्तित्व के बने रहने का द्योतक होता है।

'' 'कृतिकार अपने युग के समसामयिक जीवन की वस्तुस्थिति से उसी तरह सम्पृक्त होता है जैसे कोई भी अन्य जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति होगा। पर उसके लिए समसामयिक सर्जन की प्रक्रिया अधिक महत्व की है, क्योंकि उसकी निजी रचना–प्रक्रिया का मुख्य संदर्भ यही है।'..... 'आज का लेखक युग के व्यक्ति और समाज के जीवन की उलझनों और जटिलताओं को उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाओं और परिस्थितियों में ग्रहण करने पर अपना कृतिकर्म नहीं मानता। वह पूर्णतः समसामयिक है, उसे अपने परिवेश की पहचान और जागरूकता ही नहीं होती, वरन् उसका गहरा और समस्त बोध होता है और यह वर्तमान समसामयिकता की गत्यात्मक प्रक्रिया का बोध आधुनिकता की पहली पहचान है। न केवल वह अपने युग की सम्पूर्ण सृजनशीलता को इस स्तर पर ग्रहण करता है, बल्कि उससे अपनी रचना दृष्टि संघटित करता है।''[13]

मूलतः और अंततः उपन्यास का केन्द्रीय विषय तो मनुष्य ही है, केवल उसकी भूमिकाओं के परिप्रेक्ष्य अलग–अलग हैं। मात्र ये स्वल्प, लेकिन महत्वपूर्ण रचना–प्रकृतियाँ सार्वभौमिक स्तर पर अपनी–अपनी प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में वैश्विक उपन्यास का व्यापक बिम्ब खड़ा करती हैं। अलग–अलग भाषाओं का उपन्यास इसी भूमिका के अन्तर्गत अपनी रचना सत्ता की विशिष्टता बनाए रखते हुए भी किसी बिन्दु पर वैश्विक संदर्भ ग्रहण कर लेता है।

आज के हिन्दी उपन्यास का अध्ययन भी इस स्तर पर अपनी रचना के परिप्रेक्ष्यों की ओर आकृष्ट करता है।

आज के हिन्दी उपन्यास के अतीत के ऐतिहासिक सूत्र को वेद, पुराण अथवा संस्कृत की कथा–परम्परा के अंतर्गत लिखे गए 'कथासरित्सागर' एवं 'कादम्बरी' जैसे गल्प ग्रंथों से सम्यक मानकर चलना, विषय का अनर्गल प्रस्ताव या बिन्दु प्रस्ताव करना होगा। कोई भी जागरूक, विवेकशील एवं सहृदय व्यक्ति आज इसे स्वीकार नहीं कर सकता। ''यह प्रायः स्वीकृत तथ्य है कि विश्व की अनगिनत भाषाओं में जितना

भी समृद्ध उपन्यास साहित्य उपलब्ध है उसका निजी इतिहास अभी डेढ़ शताब्दी पुराना भी नहीं पड़ा है।"
"जो साहित्य विधा आज उपन्यास और कहानी नाम से अभिहित की जाती है वह... नितांत आधुनिक विधा है। उसका वपनकाल ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है और वह अंग्रेजी के माध्यम से अन्य यूरोपीय साहित्य के साथ स्थापित संपर्क के फलस्वरूप जन्म धारण कर सकी।"[14]

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास और नाटक के बीच कोई ऐसा गुप्त संपर्क है कि ये दोनों विधाएँ एक–दूसरे से प्रभावित हैं और आपस में संघर्षरत हैं। यद्यपि उपन्यास रचना आज अधिक विकसित है, तथापि नाट्य रचना के लिए आज का सर्जनशील कथाकार पूरे–पूरे रचना संघर्ष के लिए तैयार दिखाई देता है। यही कारण है कि नाटक की महत्ता एवं गरिमा पुनः बढ़ रही है। बंगला नाटकों को देखें तो वे बंगला उपन्यासों की अपेक्षा अधिक विचारशील, विचारोत्तेजक तथा रचनात्मक लगते हैं। बादल सरकार के नाटकों में 'एवं इन्द्रजित', 'बल्लनपूर की दंतकथा', 'पगला घोड़ा', 'बाकी इतिहास' तथा 'हिरोशिमा' की एक विशिष्ट गरिमा है जो बंगला उपन्यास की लोकप्रियता को छा लेती है। इसी प्रकार हिन्दी में मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस', 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'आधे अधूरे' उनके उपन्यासों की गरिमा का अतिक्रमण करते हैं।

"आज का उपन्यास निरंतर जीवन के निकट आने और उसे नए अर्थ देने के लिए संघर्षरत है। कभी–कभी इसकी भंगिमाएँ जीवन की ठोस अनुकृति बनकर अपनी सर्जनशीलता को खो बैठती हैं। लेकिन ऐसा प्रायः तभी हुआ है, जब रचनाकार के रचना–संघर्ष में सर्जक क्षण शिथिल हो गया है।"[15]

आज उपन्यास में जीवनगत व्यापक संकुचित, गहरी एवं सुक्ष्म भूमिकाएँ बुनी नहीं जातीं, प्रत्युत वे स्वयंसिद्ध रूप में इसकी विद्यागत अन्तिति बनकर आती है।

प्रायः इसी भूमिका में 'गोदान' से पूर्व का हिन्दी उपन्यास औपन्यासिक बिम्ब की सृष्टि नहीं लगता,क्योंकि इसका समूचा रचना तंत्र मनोरंजन एवं शिक्षावाद से त्रस्त है। संभव है, इसका समय के संदर्भ में महत्व रहा हो, किन्तु आधुनिकता की परिस्थिति और संदर्भ के अध्ययन के पश्चात् यह स्वाभाविक हो जाता है कि आज के हिन्दी उपन्यास का बिम्ब जीवन की व्यापक एवं निकटतम मुद्राओं में अन्वेषित किया जाए। इसी पथ पर इसकी रचना के परिप्रेक्ष्य उजाले में लाए जा सकते हैं।

हिन्दी उपन्यास : गोदान (प्रेमचन्द – 1936)

''आज के हिन्दी उपन्यास की सर्जनशील संभावनाओं को अनगिनत आयाम भेंटने का श्रेय प्रेमचन्द की औपन्यासिक कृति 'गोदान' को प्राप्त है।''[16] ''इसका महत्व प्रतिपादन अनेक दृष्टियों से किया जा चुका है। इन दृष्टियों ने 'गोदान' की परख का एक स्वयंसिद्ध इतिहास खड़ा किया है, जिससे इस कृति की विलक्षण मुद्राएँ भी स्पष्ट होती हैं।''[17]

'' 'गोदान' की विलक्षणता का मूल कारण प्रेमचन्द की सर्जनशीलता है, जो स्वयं आधुनिकता की प्रकृति एवं प्रत्ययगत अवधारणाओं का संदर्भ है। आधुनिकता को सर्जनशीलता का नया संदर्भ भी माना गया है।''[18] और इस संदर्भ में 'गोदान' लेखक की कृतिधर्मिता अथवा कृतिचेतना का सुष्ठ परिचय देता है। ''कहा गया है कि 'कथा क्रम' की दृष्टि से प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों की विकसित कथा 'गोदान' में मिलती है।''[19] मात्र इसी स्तर पर 'गोदान' एक विकसनशील कृति का भी आभास देता है। 'गोदान' में खड़ी समस्याएँ जीवन–वास्तव से जुड़ी हुई समस्याएँ हैं, अतः इनकी विकसनशीलता स्वयंसिद्ध है।

अपने प्रभावान्वित रूप में 'गोदान' इस स्तर पर भारतीय जन–जीवन के वास्तव की घोषणा है, इस जीवन–वास्तव के वैयक्तिक एवं सामाजिक पक्ष पर एक तीक्ष्ण व्यंग है जो रुढ़ियों, विश्वासों और असृजनशील मान्यताओं को अपने घेरे में लपेट कर संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति पाता है। गोदान जीवन–वास्तव की घोषणा है, क्योंकि अपने अधूरे बिम्ब की तलाश में जिस कोण तक यह गतिशील है,उस कोण तक इसके सर्जनशील संदर्भ स्पष्ट हैं।

गोदान में सर्जनशीलता का संदर्भ व्याख्यायित नहीं हो पाता। वस्तुतः इसमें सर्जनशीलता का संदर्भ समूची मानवीय स्थिति की व्याख्या से सम्पृक्त है, जिसे प्रेमचन्द ने न केवल होरी, न केवल धनिया, न केवल गोबर अथवा झुनिया, बल्कि उस समूची मानवीय स्थिति में उभारा है, जिसमें ये पात्र जी रहे हैं और इनके जीने के क्षणों का संघर्ष कलात्मक हो सका है। इंस स्तर पर हीरा भी उतना ही प्रामाणिक है, जितना होरी क्योंकि वह सहज मानवीय स्थिति की व्याख्या है।

आधुनिकता के प्रत्यय के संदर्भ में, समूची मानवी स्थिति में गोदान के पात्रों का संघर्ष इसे नयी अर्थकता देता है जो प्रेमचन्द के अपने ही दूसरे उपन्यासों के समक्ष एक अभिनव उपलब्धि है।

'गोदान' केवल एक विचार–कथा या समस्याओं की कथा नहीं है, बल्कि वह मानवयी संघर्ष की कथा है। ऐसी कथा जिसमें, स्वाधीनता–युग की क्रान्ति की स्वरलहरी का ज्वार भी है तो सारी लड़ाई का पराजय बोध भी।

इन सारी रचनागत असंगतियों के रहते भी 'गोदान' में जीवन–वास्तव का चित्रण प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक साफ़ है। इसमें होरी का जीवन–पर्यन्त संघर्ष है, जिसके लिए 'डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि, 'गोदान उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है।'[20] 'गोदान' उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा हो या न हो, होरी का संघर्ष नजरों से ओझल नहीं किया जा सकता।

इसी तरह धनिया की सहज मानवी प्रतिक्रियाएँ, होरी के भातृ–प्रेम और मर्यादा के लिए सब कुछ खो देने का उसका विरोध मानवी स्थिति का खुला साक्षात्कार है।

'गोदान' की सीधी अर्थवत्ता और कृति–सत्य इन्हीं में उभरता है। आधुनिकता के संदर्भ में 'गोदान' की उक्त भूमिका उपन्यास की सिद्धि और सार्थकता की तलाश की भूमिका है, जो होरी की मृत्यु और धनिया की पछाड़ में अंतहीन अंतों से जुड़कर सहज हो सकी है।

त्यागपत्र – जैनेन्द्र (1937)

'गोदान' के रचनाकाल में ही हिन्दी उपन्यास की रचनात्मक गतिविधियाँ स्पष्ट होने लगी थीं। इसका एक कारण प्रेमचन्द का रचना संघर्ष और कृतिधर्मिता का बोध था, जिसने उन्हें जीवन के यथार्थ की खोज के हेतु उसके विभिन्न आयामों ने विचरण करने की दिशा प्रदान की थी, और जिसके फलस्वरूप होरी–धनिया से जुड़े मानव–बिम्ब खड़े हो सके।

'गोदान' के ही रचनाकाल में जैनेन्द्र इससे नितान्त भिन्न दिशा में व्यक्ति के जीवन का अन्तरंग यथार्थ खोज रहे थे। इनकी यह खोज ही प्रायः 'सुनीता' (1934) की रचना का मूल कारण बनी।

इनके उपन्यास 'कल्याणी' (1936), 'सुखदा' (1952), 'जयवर्धन' (1956) और 'मुक्तिबोध' (1965) इनकी एक पूरी परम्परा खडी करते हैं। प्रायः सभी उपन्यासों में एक कथा–रुढि मिलती है, जो

लेखक के रचना संघर्ष को किसी अभिवन दिशा की ओर न ले जाकर एक ही घेरे में घुमाती रहती है, लेकिन फिर भी इसका एक नियत विधान है, जिससे जैनेन्द्र की नारी आत्म पीड़ा और इससे संलग्न एक भावनामय संसार का यंत्र बनाकर रह गयी है। यह उपन्यास अपनी प्रभावान्विति में एक नारी की पीड़ा–गाथा बन सका है। यह नारी मृणाल है, जिसका पालन–पोषण अपने भाई और भाभी के यहाँ होता है। 'विनोद' दूसरा मुख्य पात्र है, जो मृणाल की समूची वेदना का दृष्टा और कथावाचक भी है। मृणाल विनोद की बुआ है, जो प्रायः अपने वयः संधिकाल में ही भावनात्मक शोषण का पात्र बन चुकी है। लेकिन मृणाल का भावनात्मक शोषण उसके व्यक्तित्व को और भी विस्फोटक बनाता है और जीवन के बाह्य यथार्थ से जीवन के आन्तरिक यथार्थ के संघर्ष को बल देता है। '' 'त्यागपत्र' इस बिन्दु पर मृणाल का अपने जीवन से त्यागपत्र अधिक है और विनोद का जजी से त्यागपत्र कम। लेकिन कलात्मक और रचनात्मक संवेगों के अभाव में यह त्यागपत्र अस्पष्ट हो गया है। विनोद जब यह सोचता है कि 'सृष्टि गलत है, समाज गलत है''[21] तो इसमें रचनात्मक संवेग उपलब्ध होते हैं, लेकिन इस सृष्टि को ठीक किया जाना जरुरी है और इसे ठीक करने के लिए क्या–क्या किया जाना चाहिए? इस संबंध में जैनेन्द्र की विचारधारा का उपन्यास की संगति और अन्विति पर आक्रमण चेष्टित है।

गिरती दीवारें (1947) – उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'' 'गिरती दीवारें' अश्क कें औपन्यासिक बिम्ब को संज्ञा प्रदान करने वाला उपन्यास है। यह संज्ञा अश्क की उपन्यास रचना की केन्द्रीय पात्रता (चेतन) में उपलब्ध होती है।''[22] 'गिरती दीवारें' से पहले अश्क 'सितारों के खेल' की रचना कर चुके थे और इसकी 'बहुत अच्छी' आलोचनाओं से संतुष्ट थे। लेकिन कृतिधर्मिता की मांग ने 'सितारों के खेल' के लेखक को जीवन के बहते हुए यथार्थ की आन्दोलित लहरों पर ला फेंका और तब निम्न मध्यमवर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विषमताओं के एक समसामयिक एवं विशिष्ट इतिहास की नीवें खुलने लगीं। 'गिरती दीवारें' इस नीवं को कुरेदने का पहला प्रयास है।

'गिरती दीवारें' का मूल्यांकन न केवल गिरती हुई दीवारों में निहित भाव–बोध का मूल्यांकन है, अपितु उन समूचे निम्न मध्यवर्गीय संसार के अश्क द्वारा खोजे संदर्भो का मूल्यांकन भी है, जिनमें ये दीवारें खड़ी हैं और गिर रही हैं। चेतन की पात्रता इन समूचे संदर्भो से गठबंधित है। यही नही, ये समूचे संदर्भ ही

उसकी पात्रता की नियति भी प्रदान करते हैं। जहाँ वह नियति के भ्रमजालों के प्रति जागरुक हो सका है, वहाँ से उसकी पात्रता को नये अर्थ मिल जाते हैं। ये नये अर्थ चेतन को उपन्यास का केन्द्रबिन्दु भी बना देते हैं, लेकिन, मात्र इतने से ही उसकी नियति के संदर्भ उसका निम्न मध्यवर्गीय परिवेश और उसके युग–संदर्भ अपने अर्थ क्षीण नहीं कर देते। मूलतः और अंततः कृति सत्य उन्हीं में से उभरता है।

अतः 'गिरती दिवारें' अपने कृति सत्य में जितना निम्न मध्यवर्गी के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ से जुड़ा है, उतना ही चेतन की पात्रता से, उसके जीवन के भ्रमजालों को दिशा–निर्देश देने वाली उसकी नियति से। अपनी प्रभावान्विति में यह उपन्यास मध्यवर्ग के व्यक्ति की सम्पुंज नियति का उपन्यास बन जाता है। उपन्यास की अंतिम परिणति इसे ध्वनित करती है। ''नीला को अपनी नियति से जोड़ पाने में असफल हुआ चेतन जब अंततः चंदा (पत्नी) के गर्म गदराये शरीर के साथ सटता है, तो उसे लगता है कि जैसे वे एक–दूसरे से कोसों दूर हैं, जैसे एक अभेद्य, अदृश्य दीवार उन दोनों के बीच खड़ी है। यह दीवार चेतन की ही नियति नहीं, प्रत्युत् निम्न मध्यवर्ग के हर व्यक्ति की नियति है, जिसकी केन्द्रीय रचनात्मक संज्ञा या एक कथा–बिम्ब 'चेतन' बन गया है। तभी तो 'चेतन' को लगा कि यह दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं – नीला और त्रिलोक के मध्य भी है।''23 चेतन का नियति के भ्रमजालों के प्रति जागरुक होना उसके व्यक्तित्व के नए अर्थ देता है, लेकिन, वह निम्न मध्यवर्ग से अलग नहीं और इसीलिए थोड़ा और सोचने पर उसे लगता है कि ये दीवारें अन्तहीन दीवारें हैं, जो स्त्री–पुरुष, वर्गों और जातियों, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और व्यक्ति के बीच हैं। इनकी नीवों का पता नहीं है।इनका गिरना कैसे होगा, व्यक्ति यह भी नहीं जानता। इनसे केवल उद्विग्नता उपजती है, और ये केवल व्यथा देती हैं। यह उद्विग्नता और व्यथा, मानव जीवन की नियति और यथार्थ दोनों हैं। प्राकृतिक क्रियाकलापों में भी इसे बिम्बात्मकता प्रदान की गयी है। ''बाहर जोर–जोर से वर्षा होने लगी और आंगन के जंगले पर पड़ी टीन की चादरें वर्षा के अनगिनत थपेड़ों से क्रन्दन कर उठीं।''[24] जंगले पर पड़ी टीन की चादरों का क्रन्दन निम्न मध्यवर्ग की नियति और उसके पीड़ाबोध को कलात्मक अर्थ प्रदान करता है।

'गिरती दीवारें' में प्रायः पहली बार शहर का निम्न मध्यवर्ग अपने पूरे अस्तित्व और इतिहास सहित प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि इसमें चित्रित निम्न मध्यवर्ग देश की स्वतंत्रता से पूर्व का है, तथापि आज परिस्थिति बदल जाने के बाद भी इसकी नियति में आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है। इन अर्थों में लेखक को जीवन की आन्तरिक भ्रमजालिता का बोध है, जो सर्वथा प्रशंसनीय है।

'गिरती दीवारें' का कृति–सत्य जितना निम्न मध्यवर्ग के सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक यथार्थ से जुड़ा है, उतना ही चेतन की पात्रता से, उसके जीवन के भ्रमजालों को दिशा–निर्देश देने वाली नियति से और अंततः एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की सम्पुंज नियति से। इस स्तर पर 'गिरती दीवारें' में तत्वत आधुनिकता की प्रकृति की व्याख्या उपलब्ध होती है, जिसकी बिम्बात्मक सत्ता जीवन के भ्रमजालों के विविध रूपांकन में है। यह बिम्बात्मक सत्ता पहले जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले से लाहौर के चंगड मुहल्ले में रुपान्तरित होती है और फिर शिमला के रूल्दू भट्ठा मुहल्ले तक फैल जाती है। ये मुहल्ले जैसे निम्न–मध्यवर्गीय–कथा–रुढ़ि बन गये हैं। इनमें इस वर्ग की साँसों की धौंकी सुनी जा सकती है और इनका विभिन्न आयामों में फैला यथार्थ अंकित हुआ देखा जा सकता है। जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले में जन संस्कृति, बस्तियों का प्रकृत यथार्थ, सीलन और बदबूदार घर, एक व्यापक परिवेश की भूमिका है, यह भूमिका लाहौर के चंगड़ मुहल्ले में रुपांतरिक होकर चैन नहीं लेती, प्रत्युत् शिमला में कविराज के यहाँ चेतन के आवास के माध्यम से पुनः मुहल्लों की दुनिया की एक और संश्लिष्ट भूमिका अपने साथ जोड़ लेती है। एक के बाद एक जर्जर एवं खोखले जन–समाज का यह अंकन आधुनिकता की चुनौती के स्वीकार में रेखांकित किया जा सकता है।

'' 'गिरती दीवारें' में मुहल्लों के प्रकृत यथार्थ के बाद चेतन की पात्रता और उसकी नियति की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ लेखक का रचना–संघर्ष इस पात्र की भंगिमाओं से खुले साक्षात्कार का है। आधुनिकता के प्रत्यय के संदर्भ में लेखक का पात्र से यह खुला साक्षात्कार रचनात्मक स्तर पर चेतन संघर्ष की रेखा खींचता है। इसी को व्यक्त करने के लिए अश्क को कहना पड़ा है कि मानव तो गुण–दोषों से बना है, कि जीवन तो कूड़े–करकट, धुएँ–धुँध, गर्द–गुबार, कीचड़ और बादल से अटा पड़ा है .... कि वह इतना सरल नहीं है कि देवता हो, वह पासे का सोना नहीं, अष्ट धातु का मिश्रण है कि उसके बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं, उसके अन्तर में भी बेगिनत स्तर है, जिनके नीचे ऐसी–ऐसी कन्दराएँ हैं, जिनकी झाँकी–मात्र कँपा देने को यथेष्ठ है।[25] यह कृतिधर्मिता की माँग थी, और अश्क का रचना संघर्ष था जो उन्हें जीवन की विषमताओं के साथ खुले टकराव की दृष्टि दे सका। चेतन और उसका परिवेश इसी दृष्टि की उपज है।

आधुनिकता के संदर्भ में कृतिधर्मिता और रचना संघर्ष की प्रक्रिया 'गिरती दीवारें' में चेतन और उसके परिवेश दोनों की नियति को सामाजिक एवं वैयक्तिक भूमिकाओं में आंकती है। 'गिरती दीवारें' मूलतः निम्न मध्यवर्ग के व्यक्ति की नियति का अंकन अधिक है, सामाजिक भूमिका का सत्य कम।

'गिरती दीवारें' निम्न मध्यवर्गीय नियति से, खुला साक्षात्कार और वस्तुस्थिति का स्वीकार न करना है।

उसका बचपन (1957 – कृष्ण बलदैव वैद)

''जिन दिनों 'सागर लहरें और मनुष्य', 'उखड़े हुए लोग', 'बूँद और समुद्र' जैसे बृहदाकार उपन्यास प्रकाश में आ रहे थे, उन्हीं दिनों कृष्ण बलदेव वैद के एक छोटे–से उपन्यास 'उसका बचपन' की रचना हुई।''[26] हिन्दी उपन्यास जगत में तब इसका प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना थी। आज भी इस उपन्यास का महत्व, इसमें चित्रित निम्न मध्यवर्गीय परिवार की रोज–बरोज नियति को ढोते हुए, एक अल्पायु के बालक की चेतना एवं मानसिक विकास की विविध भंगिमाओं के कारण बना हुआ है। ये भंगिमाएँ हिन्दी उपन्यास की बिम्बात्मक उपलब्धियाँ हैं।

''मन्नू भण्डारी ने हाल ही में (1971) एक भिन्न स्तर पर प्रायः इसी आयु के बालक की चेतना एवं मानसिक विकास की विविध भंगिमाओं को लेकर अपने उपन्यास 'आपका बंटी' में सहेजने की कोशिश की है।''[27] किन्तु 'उसका बचपन' का बीरू और 'आपका बंटी' के बंटी के परिवेश एवं परिस्थितियाँ नितांत भिन्न प्रकृति की हैं, जिससे इन दोनों का महत्व अलग–अलग दृष्टियों से है। दोनों में सादृश्य केवल इनके मुख्य पात्र के 'बचपन' का है, जिसे ये दोनों अपने परिवेश एवं परिस्थितियों में जी रहे हैं। स्वभावतः दोनों उपन्यासों में दो 'बचपन' अपनी–अपनी प्रकृति में सुरक्षित हैं। छोटे बच्चों की दयनीय स्थिति का कृष्ण बलदेव वैद जी ने इस उपन्यास में काफी सजीव चित्रण किया है। गरीबी और जहालत के कारण बच्चों को किस नरक से गुजरना पड़ता है इस उपन्यास में बताया गया है। नगरीय परिवेश में स्त्री–पुरुष के खंडित दाम्पत्य के कारण बच्चों की क्या दशा होती है उसे चित्रित किया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि ऐसे ही बच्चे आगे चलकर समाज में अनेक समस्याएँ पैदा करते हैं। वे स्वार्थी और स्वकेन्द्री हो जाते हैं। वे किसी को सच्चा प्रेम नहीं दे सकते, क्योंकि उन्हें सच्चा प्रेम नहीं मिला है। अतः 'उसका बचपन' वैद जी का बहुत ही मर्मस्पर्शी उपन्यास है।

'उसका बचपन' मूलतः बीरू की कहानी है, जिसमें बीरु से जुड़ा हुआ परिवार अथवा परिवार से जुड़ा हुआ बीरु, बाह्य परिवेश एवं परिस्थितियों और अंततः इनकी नियति से बीरु का साक्षात्कार चित्रित है। यद्यपि यह चित्रण लेखक का है तथापि इसमें एक सहजता है, जो बीरु की मनःस्थितियों के निकट एवं सामान्तर फैली हुई हैं। इसी से बीरु का अन्तर्बाह्य संसार अधिक से अधिक प्रामाणिक और कम–से–कम रूप में अप्रासंगिक हो सका है।

आधुनिकता के संदर्भ में 'उसका बचपन', सर्वप्रथम एक कलात्मक एवं सृजनात्मक प्रयोग है। 'उसका बचपन' में 'खोज' 'मुक्ति' की है, जो जीवन के भ्रमजालों के निकट बीरु को उपलब्ध नहीं हुई। यह भाव–बोध बालक (बीरु) के मनोवैज्ञानिक संसार का पोषक होने के साथ–साथ उसकी समष्टि के याथार्थिक संसार का भी पोषक है। यह भाव–बोध एक ओर मुक्ति की खोज के लिए किए गए बीरु के संघर्ष का साक्षी है और दूसरी ओर इस खोज में असफल होने वाली उसकी (मानवी) नियति का भाव–बोध भी है।

यह मुक्ति की खोज क्या है? स्वयं बीरू के निकट भी यह खोज स्पष्ट नहीं है। फाँसी का फंदा गले में डालकर रस्सी को कसते जाना, उसने खुद खोजा है, जो उसकी वय की एक नियति का भाव–बोध है और रस्सी को पूरा–पूरा न कस पाना अथवा बीरू का झटके से गिरना अथवा फंदे का ढीला पड़ जाना, नियति के भ्रमजालों का भाव–बोध है, जिसमें 'मुक्ति' संभव नहीं है, क्योंकि 'मुक्ति' अस्पष्ट है ''बीरू के निकट मुक्ति का यह क्षण आत्महत्या का क्षण नहीं है, क्योंकि आत्महत्या का बोध उसे नहीं है। वह क्षण अपने स्वयंसिद्ध अर्थो में मुक्ति का ही है – परिवेश और परिस्थिति के सारे तनाव से मुक्त होने का है, जिसके लिए वह बार–बार संघर्ष करता है। वह सबसे कट जाना चाहता है और इसीलिए रसोई–घर के दरवाजे को अंदर से बंद कर लेना चाहता है, लेकिन भ्रमजालिक नियति का फैलाव हर कहीं उसे साक्षात्कार के लिए विवश करता है। रसोई–घर के दरवाजे को बंद करते वक्त यह साक्षात्कर दरवाजे की टूटी हुई कुंडी के रूप में उसे होता है।''[28] बीरू की यह प्रकृति और उसकी प्रकृति में से उभरती हुई नियति इसके समूचे व्यवहार में बीरू का संसार बिम्बात्मक हो उठा है। लेखक ने इसे सहेजने के प्रयास में बीरू के इर्द–गिर्द के संसार को परखा है। यह संसार धूएँ, अंधेरे, घुटन, खामोशी, तनाव और इसके साथ–साथ एक आदिम नोंच–खरौंच और चीख–पुकार को लिए हुए है, जिमसें बीरू ही नहीं, उसके साथ उनकी दादी, माँ, बाबा, बहन देवी, चाचा, जलालपुरनी, पारो, असलम, हफीजा, बहनजी, नरेश इत्यादि की भंगिमाएँ भी अर्थ रखती हैं।

इनमें से दादी, माँ, बाबा, देवी और सबसे ऊपर बीरू की भंगिमाओं का अधिक महत्त्व है, क्योंकि ये भंगिमाएँ एक ही परिवेश एवं परिस्थिति विशेष की उपज हैं। धूएँ, अंधेरे, खामोशी, घुटन और तनाव के साथ–साथ इस परिवेश और परिस्थिति के प्रति एक विशेष प्रकार की बौखलाहट, बेचैनी और चीख–पुकार से एक–दूसरे के प्रति जड़ हो रही स्नेह–भावना और बदलती हुई संवेदना को व्यक्त किया है। बीरू की माँ के प्रति स्नेह–हीनता ही उसकी बदलती संवेदना को रूप देती है। माँ से ज्यादा वह दादी के निकट है, क्योंकि दादी उसे निरीह लगती है, क्योंकि वह दादी की तरह स्वयं भी निरीह है। दादी की मृत्यु के बाद वह देवी के निकट रहता है, लेकिन उसमें माँ का ही प्रतिरूप देखकर वह क्रमशः पारो और हफ़ीजा की ओर खिंचता है। बीरू का यह व्यवहार उसके भीतर सम्बन्धों की नयी भाव–भूमि का सूचक है जिसे लेखक ने सूक्ष्मता और पैने लेखन में पकड़ा है। बीरू की यह भंगिमा आधुनिकता की प्रकृति में बदलते सम्बन्धों की मनोभूमि स्पष्ट करती है। पिता के प्रति सहानुभूति का रूप उसकी चेतना को एक विशेष सन्दर्भ में उभारता है। इसमें उसे एक दिशा संकेत उपलब्ध होता है। वह इस दिशा संकेत को परिचय के भाव से ग्रहण न करके भी उसी की ओर बढ़ा है। यह दिशा संकेत ही उसे अपनी नियति के साथ साक्षात्कार के लिए प्रेरित करते हैं। पिता की घर के समूचे परिवेश से कटने की भंगिमा बीरू के लिए महत्व रखती है और वह स्वयं भी इसी भंगिमा में अपने स्तर पर 'मुक्ति' की तलाश करता है। मुक्ति की खोज और मुक्ति से विलगाव, यह दुहरा नियति–संगत संघर्ष उसकी प्रकृति को आधुनिकता की प्रकृति में जीवन की भ्रमजालिकता के निकट लाता है, और प्रत्ययगत संदर्भों में उसके संघर्ष को अर्थवत्ता भी देता है। संघर्ष देवी ने भी किया है, लेकिन वह उसे कोई अर्थवत्ता नहीं दे पायी। संघर्ष व्यक्ति को कुंठित नहीं करता जबकि देवी कुंठित भंगिमाओं से आगे नहीं जा पाती। यह उसकी नियति है। मां ने एक भदेस को सारी जिंदगी ढोया है और अंत में भी उसे ढो रही है। अपने सोने के कड़ों के लिए चिल्लाती हुई एकाएक पति के संकट का ध्यान करके उसकी सुरक्षा के लिए चिल्लाने लगती है। अर्थ (इकानमी) की समस्या अंत तक बनी हुई है। निम्न मध्यवर्ग की अभावभरी जिंदगी का एक पैना द्दश्य 'उसका बचपन' में मिलता है। दादी और काका की मृत्यु इसी अभाव भरी जिंदगी के घोषणापत्र हैं। यह अलग बात है कि यहाँ 'मुक्ति' एक रुढ़ भंगिमा में उपलब्ध होती है। 'मुक्ति' की अभिनव भंगिमाएँ बीरू में ही हैं। उसके तनाव बहुत स्पष्ट हैं और इनसे छुटकारा पाने की भी उसकी अदम्य इच्छा है। माँ उसे अपनी कहानी सुनाती है, अभावों से पीड़ित जीवन का सारा अवसाद उसे घोल कर पिला देना चाहती है, लेकिन वह मुक्ति की अदम्य आकांक्षा लिए राजा–रानी की कथा में खो जाता है। फूल रानी की बातें सोचता है। वह नींद चाहता है या फिर आकाश में उड़ कर माँ और बहन पर थूँकना चाहता है। उसका यह सोचना किसी विशेष समय पर नाटकीय लग सकता है, लेकिन इस सारी सोच के लिए यथेष्ट तनाव उसमें बने रहे है।

'उसका बचपन' अंततः इस स्तर पर आधुनिकता के संदर्भ मे एक समष्टि के घुटन और अवसाद की व्याख्या है जो अपने याथार्थिक भंगिमाओं में उभरती है। चित्रण की यह विशेषता है कि यह भावनात्मक स्तर पर शिथिल और रोमेंटिक नहीं है। लेखक की चेतना ने एक अल्पायु के बालक की चेतना के समकक्ष उठकर एक जीवित, लेकिन रेंगते हुए निम्नमध्यवर्ग के जीवन को उसकी केंचुली से अलग करके देखा है, जो आधुनिकता के संदर्भ में इस प्रयोग की कलात्मक एवं सृजनात्मक उपलब्धि हो सकती है।

यह पथबन्धु था (1962 – नरेश मेहता)

नरेश मेहता के उपन्यासों में संयुक्त एवं विभक्त दोनों प्रकार के परिवेश की चर्चा है। संयुक्त परिवार प्रथा भारतीय समाज के संगठन का ठोस आधार है। विशेष रूप से भारतीय मध्यवर्गीय समाज में यह प्रथा काफी समय से प्रचलित है। शताब्दियों तक इसका चलते रहना इसके सामर्थ्य को प्रमाणित करता है। लेकिन अब यह प्रथा धीरे-धीरे बुरी तरह विघटित हो रही है। श्री नरेश मेहता जी ने विशेषकर अपने बृहत् उपन्यासों 'यह पथबन्धु था', 'उत्तरकथा भाग एक', 'उत्तरकथा भाग दो' में संयुक्त परिवार एवं उसके विघटन का विस्तार से चित्रण किया है। संयुक्त परिवार में कई परिवार एक साथ रहते हैं। परिवार के बुजुर्ग अथवा माता-पिता नहीं चाहते कि परिवार विभाजित हो। परिवार का मुखिया प्रायः सोचता है कि संयुक्त परिवार के टूटने पर उसके घर की इज्जत कम हो जायेगी। 'यह पथबन्धु था' में श्रीनाथ ठाकुर एवं उनके तीनों लड़कों का परिवार एक साथ रहता है। श्री मोहन एवं श्री वल्लभ संयुक्त परिवार में रहना नहीं चाहते। इसलिये वे दोनों घर से अलग होने की योजनायें बनाते हैं। लेकिन श्रीनाथ ठाकुर की पत्नी सामान्य माँ की तरह हमेंशा उनका विरोध करती है। वह चाहती है कि सभी बेटे-बहुएँ उनके साथ ही रहें। संयुक्त परिवार को बनाये रखने के लिये वह बहुओं के द्वारा किया जाने वाला अपमान और अनादर भी सहन करती है। बहुओं के साथ ही लड़के भी माँ-बाप से ठीक से व्यवहार नहीं करते। लेकिन इसके बावजूद माँ को इस बाद की तसल्ली है कि परिवार में सभी साथ रहते हैं।

श्री मोहन छावनी में मकान बनवा लेता है। श्रीधर माँ को समझाता है कि वह सबको अलग कर दें। ''जब तक हम बैठे हैं तब तक इस घर के टुकड़े तो होने से रहे। भले ही वह अपना मकान बनवा ले।''[29]

परिवार के मुखिया श्रीनाथ, श्री मोहन एवं उसकी पत्नी के व्यवहार से परेशान होकर चाहने लगते हैं कि श्री मोहन अलग हो जाये। लेकिन पत्नी इसे स्वीकारने को राजी नहीं – ''ठीक है, श्री मोहन अलग

हो जाए तो रोज–रोज की झंझट मिटे। – नहीं, यह नहीं होगा। जब तक मैं बैठी हूँ घर का बँटवारा नहीं हो सकता।''[30]

माँ के भरसक प्रयत्न के बावजूद श्री मोहन की पत्नी इस बात पर अपना अलग खाना बनाना शुरु कर देती है कि श्री मोहन के कचहरी जाने तक खाना तैयार नहीं था। इस बत पर वह सास से लड़ती है एवं देवर की लड़की मुनी को जोर से धकेल देती है तथा उससे अपशब्द कहती है। इतना सब हो जाने के बाद भी सास बहू को खाने बुलाने जाती है। लेकिन दरवाजा नहीं खोला जाता। कोई जवाब भी नहीं दिया जाता। इस घटना के बाद अपनी योजना के अनुरूप श्री मोहन घर से अलग हो जाता है।

श्री मोहन का छोटा भाई घोड़ा–डॉक्टर अपना स्थानान्तरण करवा लेता है ताकि वह संयुक्त परिवार से अपने आप अलग हो जाय। ''छोटे भाई डॉक्टर श्री वल्लभ ठाकुर ने अपना तबादला करवा लिया था और इस बहाने वह अपने को इस कौटुंबिकता के जंजाल से मुक्त कर सके थे।''[31]

पिता उसके स्थानान्तरण को समझते हुए सोचते हैं – छोटे लड़के श्री वल्लभ ने बड़ी चतुराई के साथ कौटुंबिकता से अपने को लगभग पृथक् कर ही लिया था।

और फिर अंत में जबकि गृहपति के हाथ में कुछ नहीं रहता है तब उन्हें स्वयं के व्यवहार पर पछतावा होता है – ''श्री मोहन की बहू को यदि कड़ककर शुरु में ही बरज दिया गया होता तो उसकी यह हिम्मत हुई होती कि वह अपनी पोती के ब्याह में उन्हें दूध की मक्खी की भाँति अलग कर दे? क्या उन्हें उनकी पत्नी ने गाहे–बगाहे नहीं बताया है कि श्रीधर की बहू ही बराबर खटती रहती है और श्री मोहन ने या उसकी बहू ने कभी हाथ तक नहीं बँटाया। छोटा श्री वल्लभ तो परिवार की झंझटों से हमेशा ही दूर रहा।''[32]

''मुझे बड़ा दुख है श्री की माँ! कि मैं आज तक अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे कैसे सब देखता रहा? आज जब पट्टी हटाकर देखता हूँ तो तीनों लड़के मेरी आँखों से कहीं दूर चले गये हैं।''[33] श्रीधर की माँ भी ऐसा ही सोचती है कि अगर पति चौकस रहे होते तो यह नौबत नहीं आती – ''क्या ही अच्छा होता कि यदि वे इस तरह तटस्थ देखते रहने के साथ–साथ कहीं बागडोर थामे रहते तो आज यह तीन तेरह की नौबत तो न आती।''[34]

लेकिन चौकस मुखियाओं के परिवार भी टूटते हैं। कारण जो भी हो परिवार के टूटने की प्रक्रिया और टूटे हुए स्वरूप के कारण एक सर्वग्राही हताशा और अंधेरा परिवारों पर विशेष रूप से माता–पिता पर उतर आता है – श्रीधर की माँ! तीनों अपने–अपने तरीके से पराये हैं।

''इसी दिन के लिए घर की ये चार दीवारें खड़ी की थीं कि इनकी नींव में छेद कर ये तीनों पानी के रेले चले जाएँ? एक हमें अपमानित कर गया है, दूसरा हमसे दुःखी होकर गया है और तीसरा ऐसे गया मानो उसे गोद लिया था, और अब हमें छोड़ गया है।''[35]

संयुक्त परिवार में साधारणतः परिवार पर माता–पिता का नियंत्रण होता है। घर के सारे कामकाज, रीति–रिवाज, आर्थिक एवं सामाजिक कार्य सब उन्हीं के निर्देशन में होते हैं। माता–पिता के रुढ़ स्वभाव को बदलना कठिन होता है। फिर भी कुछ स्थितियों में बहू अपने व्यवहार में सास का स्वभाव परिवर्तित कर देती है।

''लेकिन कुछ परिवारों में माता–पिता का नियंत्रण लड़के एवं बहू पर ही नहीं, बल्कि लड़के व बहू का नियंत्रण माता–पिता पर रहता है। श्री मोहन एवं सावित्री माता–पिता पर हावी हैं। जमीन की रजिस्ट्री अपने नाम पर करवा लेता है। छावनी में अपना मकान बनवा लेता है। सावित्री के निर्णय के अनुरूप लड़की कान्ता का विवाह अपनी ससुराल में कर देता है। अपने माता–पिता को नहीं बुलाता।''[36] क्योंकि बड़ी बहू ने सासूमाँ को कभी अपने कामों के बारे में बताने की जरुरत ही नहीं समझी। यहाँ तक कि छोटे भाई की लड़की गुणवन्ती की शादी अच्छे घर में होते देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं। सावित्री गुणवन्ती के ससुर तक संदेश भेज देती है कि वे ठगा गये। अभी तो गुनी के दादाजी दस हजार और दे सकते हैं। सावित्री घर में माँ की कोई बात नहीं मानती। देवरानी को अपना नौकर समझती है तथा कोई काम नहीं करती। अतः संयुक्त परिवार में माता–पिता शुरु से ही चौकस रहें तो ऐसी नौबत कम आती है। अतः इस तरह तटस्थ देखते रहने के साथ–साथ कहीं बागडोर थामे रहते तो आज यह तीन तेरह की नौबत तो न आती।

मैला आंचल (रेणुजी) (1969)

'मैला आंचल' रेणु की पहली औपन्यासिक रचना है। ''अपने प्रकाशन के तत्काल बाद ही यह रचना हिन्दी उपन्यास जगत में आंचलिकता की दृष्टि से प्रसिद्धि पा गयी थी। आज भी इसका उचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। संभवतः इसका मूल कारण इसे आंचलिक उपन्यास मानकर चलना है।''[37]

'मैला आंचल' को प्रायः लोग आंचलिक उपन्यास के नाम से जानते हैं क्योंकि 'मैला आंचल' एक लोक–संस्कृति की नयी खोज का स्वर है, जिसे मिथिला की पृष्ठभूमि में उभारा गया है। मात्र इस आधार पर इसे आंचलिक कहना व्यर्थ होगा, क्योंकि इसके अंकन में उपन्यासकार का रचना संघर्ष मिथिला की लोक संस्कृति की सांस्कृतिक दृष्टि से व्याख्या नहीं करता, बल्कि वह एक समय के उपजाए हुए, बदलते यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में उसे आंकता है। इसीलिए उसकी दृष्टि मिथिला के जन–जीवन में हो रहे परिवर्तनों को अधिक आंकती है, उसकी रुढ़ एवं इतिहासगत सांस्कृतिक विशेषताओं को कम। इस दृष्टि से नैमिचन्द्र जैन का यह कथन ध्यातव्य है – ''मैला आंचल' की सबसे अद्भुत विशेषता यही है कि उसमें मिथिला के निरन्तर बदलते हुए आज के गाँव की आत्मा की गाथा है।''[38] इस कथन में 'निरन्तर बदलते हुए गाँव की आत्मा' का महत्व है। निरन्तर बदलते हुए को औपन्यासिक अर्थों में सहेज पाना एक कलात्मक प्रयास हो सकता है और इस प्रयास में रेणु संलग्न दिखाई देते हैं। वह देहात के जन–जीवन के अंध–गहूरों में भटक कर वे संदर्भ तलाश सके हैं, जो यथार्थ के विभिन्न आयामों में जाने के लिए उपन्यास को अवकाश देते हैं। आधुनिकता के संदर्भ में यह इसकी प्रत्ययगत विशेषता है। इन संदर्भो की तलाश 'मैला आंचल' की वंध्या धरती में से ही हो सकी है, जिसके लिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि ''यह धरती नयी सृष्टि के लिए तरसती है और यहाँ का समाज एक आमूल परिवर्तन की बाट जोह रहा है।''[39] यह संदर्भ देहात के जन–मानस के तहों में बैठी हुई रुढ़ियों के हैं, जिनसे वे त्रस्त हैं। इन रुढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष का निश्चय समय का बोध है और यही बोध उपन्यास को यथार्थ के विभिन्न आयामों में प्रासंगिक एवं प्रामाणिक बनाता है। प्रायः यहीं से उपन्यास के रचनात्मक संदर्भ आरम्भ होते हैं जो कायस्थ, राजपूत, ब्राह्मण, यादव एवं संथाल जातियों अथवा टोलों की गतिविधियों की समालोचना जुटाते हैं। मठों और महन्तों की सामन्तीय व्यवस्था का ताण्डव प्रस्तुत करते हैं। कोठारिन लक्ष्मी जैसी दासियों के शोषण की कथा कहते हैं और यही नहीं, इस शोषण के विरुद्ध इनकी विद्रोहात्मक भंगिमाएँ भी प्रस्तुत करते हैं।

'''मैला आंचल' का औपन्यासिक बिम्ब उस अपूर्व आत्मीयता में है, जिसके साथ लेखक ने गांव की समस्त कटुता और संगति को, सरलता और विकृति को, स्वार्थपरता और सामाजिक एकसूत्रता को, अज्ञान और मौलिक नैतिक संस्कार को संजोया है।''[40] यह औपन्यासिक बिम्ब अपने घेरों में बंधा हुआ भी विस्मृति का विषय नहीं है, क्योंकि इसमें मेरीगंज का मूल्यांकन है। मेरीगंज की नामवाची संज्ञा से परे यह देहात के विषय का मूल्यांकन है। यह मूल्यांकन 'रेणु' की दृष्टि ने लिया ही है, लेकिन इस दृष्टि में देहात की मिट्टी की चमक आ गयी है, जिससे 'मैला आंचल' के अनगिनत पात्र और अनगिनत परिस्थितियाँ जीवन–वास्तव के गवाह बन गये हैं। इस दृष्टि से 'मैला आंचल' का मेरीगंज पिछड़े दोहात का प्रतीक बनकर अपने यहाँ के वर्ग संघर्ष और वर्ग–शोषण को ही प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत् सामूहिक रूप में बदलते हुए मनुष्य के बिम्ब को प्रस्तुत करता है।

'मैला आंचल' में अशिक्षित किसान का शोषण देहात के जीवन–वास्तव का एक सबल पक्ष है, जिसे स्वर दिए गए हैं। लेकिन ये अशिक्षित किसान या यहाँ की अपढ़ जनता ने बलदेव को जब रस्सियों में बाँधा है, या गाँव के पास साहब की कोठी होने का, किसी को अभिमान है, तो यह लेखकीय प्रतिक्रियाएँ न होकर देहात की संस्कृति और जन–मानस की क्षुद्रताओं एवं विडम्बनाओं का ही अंकन है। डॉक्टर प्रशान्त का यह सोचना कि 'पशु से भी सीधे हैं ये इंसान।' पशु से भी ज्यादा खूंखार हैं ये तो। इसमें देहात का विक्षुब्ध और विसंगत जीवन इंगित है, न कि लेखक ने किसी आग्रह से इसे निन्दनीय माना है। बावनदास यदि जनता को संगठित नहीं कर पाता तो ये उसकी व्यक्तिगत एवं युगानुकूल परिवेशगत सीमाएँ हैं, जो उसकी देहाती पात्रता को सिद्ध करती हैं। 'रेणु' ने इसे गढ़ा नहीं है। इसकी पात्रता स्वयंसिद्ध है। अतः डॉ. रामविलास शर्मा मैला आँचल के लेखक के दृष्टिकोण को इन शब्दों में बाँधते हैं तो उनके आग्रह स्पष्ट हो जाते हैं – ''समाज में अन्याय है, अंधविश्वास है, रचनात्मक कार्य के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है, लेकिन प्रगति चमत्कार से ही सम्भव है, जनता या राजनैतिक पार्टियों के लिए कुछ नहीं हो सकता।''[41]

आधुनिकता के संदर्भ में 'मैला आंचल' एक जीवनगत यथार्थ है, जिसमें आस्था का समाजवादी बिम्ब ढूंढना असंगत है। यदि कहीं आस्था के बिम्ब उपलब्ध भी हों तो वह लोक–संस्कृति में ढूंढे जा सकते हैं। देहाती संस्कृति के साथ लेखक आत्मीय है, लेकिन इनमें आस्था की परिणति भावनामय है, क्योंकि इससे मानव के भावी विकास और उसके भविष्य के स्वर्णिम स्वप्नों की राह खड़ी की गयी है, जो

आधुनिकता की प्रकृति और प्रत्यय दोनों से मेल नहीं खाती। उपन्यास की अपनी संगति में भी यह परिणति एक तनाव उपस्थित करती है।

'मैला आंचल' का कृति–सत्य एक देहात का समसामयिक बोध है, जिसे एक विशिष्ट युग के संदर्भ में उसके युगीन सत्यों से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। इससे यह मेरीगंज का और मेरीगंज के ब्याज से पिछड़े देहात के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण की भूमिका बन गया है, जिसमें एक बदलता हुआ यथार्थ अपनी प्रयोगशील भंगिमाओं में चित्रित हुआ है।

चांदनी के खण्डहर (गिरिधर गोपाल 1954; नवीन – 1962)

"'चांदनी के खण्डहर' एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की कथा है। यद्यपि यह विघटन का केन्द्र अर्थ समस्या ही रही है, तथापि अन्तरंग रूप से यह विघटन परिवार के एक सदस्य की उच्च शिक्षा के प्रबन्ध के हेतु पारिवारिक व्यवस्था और सम्बंधों के विघटन की दिशा में बढ़ता चला गया है। जीवन के भ्रमजालों की परिधि में विघटन का एक सैलाब उमड़ आया है, जिसमें उपन्यास की जीवनगत संवेदनाओं और जीवनगत नियति के संदर्भ आन्दोलित प्रतीत होते हैं। यह आज के जीवन की उस विडम्बना का चित्र है जो आधुनिकता की प्रकृति के अन्तर्गत अतिरिक्त ढंग से मानवीय होने की कोशिश करते हुए परिवार की भूमिका को स्पष्ट करता है। इस अतिरिक्त ढंग से मानवीय होने की कोशिश ने ही परिवार की संघटना को तोड़ा है और जीवनगत संवेदनाएँ 'चांदनी के खण्डहरों' में परिणत होती चली गयी है।"[42]

"'चांदनी के खण्डहर' निम्न मध्यवर्गीय परिवार की पंगु अवस्थाओं का दर्पण है, जिसमें प्रकारान्तर से निम्न मध्यवर्गी की सामाजिक पृष्ठभूमि भी झिलमिलाती है। सामाजिक पृष्ठभूमि में ही परिवार के बसंत को अपनी सामाजिक सुरक्षाओं के घेरे में एक संघटना–व्यापार के रूप में उच्च शिक्षाओं के हेतु खड़ा किया है। आधुनिकता की प्रकृति के अन्तर्गत यह संघटना–व्यापार आर्थिक स्तर पर परिवार को एक संघर्ष की नदी में फेंक देता है, जहाँ नियति उसे याथार्थिक भंगिमा के बिन्दु पर विघटन की ओर ले जाती है। विघटन और इससे जुड़ी हुई संवेदना को लेखक ने 'चांदनी के खण्डहर' के प्रतीक में प्रतिष्ठित किया है। संभवतः इसी महद् और प्रभावपूर्ण बिन्दु के अन्तर्गत श्री प्रेम भटनागर ने इस उपन्यास को प्रतीकात्मक शिल्प–विधि का उपन्यास कहा है।"[43]

चौबीस घण्टे की सीमित अवधि में बसंत के समक्ष अपने परिवार की समूची स्थितियाँ स्पष्ट हो गयी हैं। पाँच वर्ष लन्दन रहने और अब लौटने के बारह घण्टों में जो पहला आघात उसके भावुक मन पर होता है, वह परिवार के विघटन का है। परिवार ने वसंत को एक सुरक्षा और स्नेह की महद् भूमिकाओं में पुष्ट किया है, अतः वह परिवार से जुड़ा हुआ है। इस जुड़ने में यथासंगत वह भावुक भी है। भावनात्मकता की इस स्थिति में परिवार के विघटन का यथार्थ उसे अतीत के मीठे स्वप्नों से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। इसी प्रयत्न में स्वभावतः वह एक संघर्ष की भूमिका में अपना योग देने के लिए आशा और आस्थासहित तैनात होता है। उसका तैनात होना असंगत नहीं है, लेकिन जिस रूप में वह तैनात होता है वह रूप यथार्थिक भंगिमा को नहीं उभारता।

''इलाचन्द्र जोशी ने इस उपन्यास को बदलती हुई मनुष्य की प्रकृति से जोड़ने की कोशिश की है। यह दृष्टि उपन्यास के एक विशेष संदर्भ में आंकने की बात को ही पुष्ट करती है। इनका कथन है कि ''अणु युग की उपज होने के कारण मनुष्य की प्रकृति में कुछ एकदम नये, विचित्र और पिछली परम्परा के 'लॉजिक' द्वारा तनिक भी समझ में न आने वाले रहस्यपूर्ण तत्व प्रविष्ट होकर उसकी आत्मा के कण–कण के साथ घुल–मिल गये हैं।''[44] इस दृष्टि से इन्होंने उपन्यास में बसंत का एक नया 'टाइप' सिद्ध किया है, ऐसा 'टाइप' जो साधारण नहीं है। लेकिन यह दृष्टि उपन्यास के रचना सत्य को नहीं खोलती। आधुनिकता की माँग उपन्यास के रचना–सत्य की माँग है। इस माँग ने लेखक के जिस रचनात्मक संवेदन को उपन्यास में खोला है, वह मध्यवर्गीय परिवार के विश्रृङ्खलित सन्दर्भो का है। ये संदर्भ आर्थिक संकट की भूमिका में से खोजे गये हैं। यहाँ आर्थिक संकट की भूमिका ही मुख्य है। उपन्यास अंततः विघटन की ही कथा है। ''बदले हुए घर और बदले हुए संबंधों में भी एक विघटन है जो कोई नहीं जान सका। इसे अनुभव जरुर किया गया है और यह अनुभव बसंत की भाभी का है जिसने बसंत के इंग्लेण्ड चले जाने के बाद, उसके भैया को संग्रहणी होने, बाबूजी के ब्लड प्रेशर का रोगी होने और बीना की टी.बी. में, बराबर जूझते हुए अनुभव किया है। इस जूझने में बदलने के कारणों का 'क्यों' वाला प्रश्न उत्तर के बाद भी अनुत्तरित रह जाता है, क्योंकि यह बदलना किस्सा या कहानी नहीं, विघटन की पीड़ा का बोध मात्र है।''[45]

आधुनिकता के संदर्भ में इस पीड़ा बोध का महत्व है, जो पीड़ा–बोध बसंत को उस रूप में नहीं हुआ, जिस रूप में अपेक्षित था। रचनागत संवेदना और रचनागत सत्य भाभी के कथन में अभिव्यक्त होता

है, बसंत के स्वप्न और उसके बाद गुलाब के पेड़ में नये गुलाब को देखने और गुनगुनाने में नहीं।

लकीरें (ओमप्रकाश श्रीवास्तव – 1955)

'' 'लकीरें' एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के अभावग्रस्त जीवन का नक्शा है, जो आज भी किसी स्तर पर बदला नहीं जा सका। ओमप्रकाश जी ने इसे लगभग दो दशक पहले संवेदना के धरातल पर अभिव्यक्ति दी है।''[46] आधुनिकता की प्रकृति का श्रेय इस उपन्यास के पात्रों को चरित्र नहीं बनने देता, बल्कि उनके मामूलीपन में आंकता है, जो किन्हीं अजदहा परिस्थितियों और सामाजिक विडम्बनाओं के शिकार बनकर अपनी भोगी हुई यातना के गवाह स्वयं हैं।

आधुनिकता की इस प्रकृति ने मानव–नियति की भ्रमजालिक भंगिमा को त्रासद् भूमिका में भावात्मक और संवेदनात्मक स्तरों पर उपन्यास में उभारा है। एक ओर यह भूमिका आर्थिक स्तर पर खण्डित हो रहे निम्न मध्यवर्ग की है, और दूसरी ओर परिवार में बदलते हुए सम्बन्धों और बिखरते हुए मूल्यों की है, जो आदमी के हाथ की लकीरों और उसकी भाग्यवादी भंगिमा के विरुद्ध एक जिन्दा दस्तावेज है।

देश में लकीरों का जीवन जीने वाली भीड़ का अपना इतिहास है, और आज इस इतिहास की त्रासदी माधुरी, उषा और सिन्हा साहब जैसे लोग ही पहचान पाए हैं, जो इस भीड़ के अंग रह चुके हैं। ऐसे अभावग्रस्तों का परिवेश उन्हें छलता रहा है। सामाजिक संस्थाओं ने उनका शोषण ही किया है। उषा की तरह बहुत कम लोगों ने इन संस्थाओं की छद्म भंगिमाएँ पहचानी हैं। ऐसे में विद्रोह की आशा हो सकती है, लेकिन पारिवारिक सम्बन्धों और अपेक्षाओं के मध्य या साधारण आकांक्षाओं को पकड़ सहेजने की विवशता ने इस विद्रोह को दबा लिया है, जिसके कारण उनमें एक तरफ का निर्वासन घर करता चला गया है। उषा ने भी ऐसी स्थिति में अपने नारीत्व की सुरक्षा और सम्मान के नाम पर संस्थाओं या आश्रमों के नकली और बौने अस्तित्व को पहचान कर केवल उसकी पहुँच से अपने को बाहर खींच लिया है। उसकी सीमा इतनी ही है कि वह खुला विद्रोह नहीं कर सकती, क्योंकि वह एक पूरी भीड़ में अकेली है और उसकी आवाज छोटी–सी इकलौती आवाज है, रुक्मणी देवी जीने का संबल नैतिकताओं में खोजती है और बराबर शोषित बनी रहती है।

उपन्यास में एक चीख है जो माधुरी की आत्महत्या में सुनाई देती है। यद्यपि आधुनिकता का प्रत्यय आत्महत्या की उपज में संगति नहीं देखता, लेकिन आधुनिकता की प्रकृति में नियति का संदर्भ इसे अवकाश देता है, और इसके भी परे शोषित की एक आवाज आत्महत्या में भी उभरती है, क्योंकि वहाँ छद्म स्थितियों का अस्वीकार होता है। समाज में प्रश्रय दिये जाने वाले छात्र जैसे छद्म लेखक ही इस आत्महत्या के कारण हैं जो उगती हुई फसल को पिछली प्रेम कहानियों के विष से नष्ट करते हैं। और फिर भी अगुआ बने रहते हैं।

सामाजिक विडम्बनाओं के इस घेरे में छला जा रहा व्यक्ति मूलतः अज्ञान और अभाव का पहरुआ ही है। या तो वह भाग्यवाद से प्रेरित है, या फिर वह अकेला और असहाय है। व्यवस्था को बदलने में उसका अक्षम या जड़ होना इन्हीं कारणों से है। एक झूठे भाग्यवाद को ढोते हुए सहसा सिन्हा साहब जब अपने असल अस्तित्व को पहचानते हैं तो उपन्यास रोशनी से यकायक भभक उठता है। चाहे सिन्हा साहब खण्डित हो चुके हैं, पर उन्हें एक यथार्थ की पहचान तो अंततः हो ही गयी है। खण्डित सिन्हा इस स्तर पर मुंडेर के सामने नीचे फैले हुए एक खड़े खण्डहर की भाँति खड़ा है। खड़ा है, तो उसमें एक नयी आस्था जागी है। वहाँ आत्महत्या नहीं, बल्कि जीवन में विश्वास है। आस्था का यह नया स्वर लकीरवाद से हटकर जीवन को उसके रोज के संघर्ष में समझने की कोशिश में है। रोज का यह संघर्ष उषा से शुरु होगा जो तीन–चार महीने के बाद अभावों से जूझने के क्रम में शामिल हो सकेगी। जूझने का यह क्रम ही आधुनिकता का प्रत्यय है, जिसे उपन्यासकार ने लकीर से हट कर ढूंढा है।

अंधेरे बंद कमरे (मोहन राकेश – 1961)

मोहन राकेश का यह उपन्यास सन् 1961 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास ने तब के उपन्यास जगत में अंधेरे बंद कमरे के द्वार को खोला था। यह उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों का दस्तावेज है। इसमें लेखक ने महानगरीय परिवेश के बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन की मानसिक गुत्थियों को प्रकट किया है। डॉ. कुसुम वार्ष्णेय के मतानुसार – ''मोहन राकेश का यह पहला उपन्यास सातवें दशक के नए आयाम खोलने की गवाही देता है। उसमें पहली बार स्त्री–पुरुष को नए संबंधों और तनावों को भरपूर खुली आँखों से देखने की कोशिश की गई है। उसमें सांस्कृतिक विघटन, बदलते बाह्य परिवेश में स्त्री–पुरुष की मानसिकता की ढकी–छिपी रेखाएँ और कोण पहली बार उजागर हुए हैं।''[47] इस उपन्यास में जहाँ एक तरफ दिल्ली के बुद्धिजीवी लोगों का ''सोफेस्टीकेटेड'' समाज है, वहाँ दूसरी तरफ कस्साबपुरा की

निम्नवर्गीय जिन्दगी का चित्रण है। जिसे श्रीकान्त वर्मा प्रतीकात्मक ढंग से ड्राइंग–रूम और सड़क की संज्ञा देते हैं।''[48]

The M. S. University of Baroda Library

इस उपन्यास में प्रेम के पुराने मूल्यों को तोड़कर एक नये मूल्य में रूपान्तरित किया गया है। उपन्यास के केन्द्र में प्रेम के अन्तर्द्वन्द की कथा है। यहाँ स्त्री–पुरुष एक ऐसे 'अँधेरे बंद कमरे' में हैं, जिसमें वे एक–दूसरे से प्रेम करते हैं और जितनी सन्निकटता से प्रेम करते हैं, उतने ही अकेले हो जाते हैं। प्रेम की उद्भावना से अभिभूत हो, वे जितना एक–दूसरे से जुड़ने की कोशिश करते हैं, उतने ही अपरिचित हो जाते हैं। उपन्यास में प्रेम, सह–अस्तित्व की तलाश में उभरता है। इस प्रकार इस उपन्यास में अस्तित्ववादी धरातल पर स्त्री और पुरुष (पति–पत्नी) के अन्तर्द्वन्द्व को उभारा गया है। उपन्यास में 'अर्थ' से 'इति' तक नीलिमा और हरबंस के जीवन का तनाव चित्रित हुआ है। ''नीलिमा और हरबंस एक अँधेरे बन्द कमरे में रहने के इतने आदी हो चुके हैं कि किश्तों के बाहर एक खुले और नामहीन सम्बंध की बात वे सोच ही नहीं सकते। सोचना चाहें तो कमरों की दीवारें टूटती हैं।''[49]

हरबंश और नीलिमा आधुनिक शिक्षित दम्पत्ति हैं। 'कार्टशिप' के दिनों में वे दोनों एक–दूसरे को बहुत चाहते थे। विवाह के उपरांत हरबंश नीलिमा को अल्ट्रामोर्डन बनाने के लिए पेंटिंग और नृत्य आदि के लिए प्रेरित करता है। परन्तु जब इन कारणों से नीलिमा हरबंश के मित्र वर्तुल में अधिक चर्चित होने लगती है, तब हरबंश को बुरा लगता है। हरबंश एक तरफ नीलिमा को आधुनिक बनाने के लिए प्रेरित करता है, परन्तु दूसरी तरफ उसके भीतर का मध्यकालीन पुरुष उसे कुण्ठाग्रस्त कर देता है। हरबंश का विदेश भाग जाना, उमा दत्त के नृत्यटीप में नीलिमा को भेजकर बाद में उससे असहयोग कर लेना, स्वदेश लौटने पर नीलिमा के नृत्य–प्रदर्शन में भी पूरी तरह साथ न देना, नीलिमा के जन्म–दिन को भी भुला देना जैसी बातों से हरबंश की उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। उसकी इस वृत्ति का विश्लेषण करते हुए नीलिमा एक स्थान पर कहती है – ''तुम सिर्फ इस हीन–भावना के शिकार हो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है। तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं। तुम्हें डर लगता है कि अगर मेरा प्रदर्शन सफल हुआ, तो लोग मुझे और ज्यादा जानने लगेंगे और तुम अपने को और छोटा महसूस करोगे।''[50] यह भारतीय पुरुष के संक्रान्तिकालीन मानसिकता को उद्घाटित करती है। आधुनिक शिक्षा पश्चिमी सभ्यता तथा नारी मुक्ति के वैचारिक स्रोतों ने स्त्री को एक उच्च भूमिका प्रदान की

है। स्त्री का यह स्वतंत्र व्यक्तित्व पुरुष को लुभाता तो है, परन्तु विवाह के पूर्व के प्रेम–पूर्ण दिनों में, बाद में विवाह के उपरान्त स्त्री की यही स्वतंत्रता और बुद्धि प्रतिभा उसे खलने लगती है। फलतः स्त्री पुरुष के अहम् की टकराहटों में उनके दाम्पत्य जीवन खण्डित होने लगते हैं। ''नीलिमा के अहं का एक उदाहरण दृष्टव्य है – तुम सिर्फ इस हीनभावना के शिकार हो कि लोग मुझे तुमसे ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है, वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है, तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं।''[51] आंतरिक विचारसूत्र के अभाव में हरबंश और नीलिमा का प्रेम चुक जाता है। हरबंश की कुंठित प्रवृत्तियों से निराश होकर नीलिमा अपनी माँ के पास चली जाती है। परन्तु उपन्यास के अंत में उन दोनों में पुनः समझौता होता है। और नीलिमा हरबंश के पास आती है। परन्तु यह केवल इसलिए होता है कि वे दोनों साथ रहने के लिए अभिशप्त हैं। उनके जीवन में उमंग और उल्लास को जगाने वाले आंतरिक प्रेम का अभाव है।

नीलिमा अब नृत्यांगना के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बना लेना चाहती है। पति हरबंश दोहरे मानदण्डों को लेकर चलने के कारण दुविधाग्रस्त है। वह नीलिमा के स्वतंत्र व्यक्तित्व को उभारना चाहता है और नीलिमा को अपने पर आश्रित भी देखना चाहता है। किन्तु नीलिमा का चिंतन उसकी तरह अस्पष्ट नहीं है। वह नर्तकी बनने की महत्वाकांक्षा को अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लेती है। ''मैं इस रास्ते पर इतना बढ़ आई हूँ कि अब लौटकर उस तरह की गृहस्थन नहीं बन सकती जैसी कि तुम मुझे देखना चाहोगे। मैं तुम्हारे लिए सबकुछ करना चाहती हूँ, मगर उस रास्ते से हटकर नहीं।''[52] ''उसकी इस दृढ़ता के सामने अन्ततः हरबंश को घुटने टेकने पड़ते हैं और नीलिमा स्थायी रूप से उमादत्त के ट्रूप में शामिल होकर लंदन, मेड्रिड, बॉन आदि जगह–जगह पर नृत्य का प्रदर्शन करती है।''[53]

नीलिमा का व्यक्तित्व उन्मुक्त और प्रखर है। वह एक आधुनिका एवं महत्वाकांक्षी नारी है, ऊबानू या जीवन भार्गव के प्रति उसमें जो आकर्षण है उसे वह छिपाती नहीं है। परन्तु होटल के एक कमरे में ऊबानू के साथ ठहरने के बावजूद वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करती। वह इस रूप में आत्मनिर्भर एवं स्वाभिमानी नारी है। ''वह इस बात में विश्वास करती है कि पति–पत्नी में केवल शारीरिक संबंध ही सबकुछ नहीं होते, इसके अतिरिक्त भी कुछ होता है जिसके अभाव में स्त्री का केवल पुरुष की वासनापूर्ति का साधन मात्र रह जाना उसके स्वाभिमान के खिलाफ है।''[54] वस्तुतः आज की ''स्त्री न स्वयं गुलाम रहना चाहती

है और न ही पुरुष को गुलाम बनाना चाहती है। स्त्री चाहती है मानवीय अधिकार। जैविक भिन्नता के कारण वह निर्णय के अधिकार से वंचित नहीं होना चाहती।''[55] नीलिमा आधुनिक नारी के इस स्वर को प्रकट करती है।

नीलिमा की बहन शुक्ला नीलिमा से भिन्न प्रकार की स्त्री है। वह पुरुष द्वारा रक्षित रहने में स्वयं को सुरक्षित समझती है। हरबंश शुक्ला को चाहने लगता है। शुक्ला, हरबंश को ही आदर्श मानती है। शुक्ला को चाहने के कारण ही हरबंश अपने मित्रों से कटता जाता है। हरबंश, शुक्ला के सम्मुख पहले तो अपने मित्रों की प्रशंसा करता है, परन्तु ज्यों ही शुक्ला उनको सम्मान देने लगती है, वे लोग उसके लिए तिरस्करणीय हो जाते हैं, हरबंश के विदेश जाने पर शुक्ला हरबंश के मित्र सुरजीत से विवाह कर लेती है। हरबंश को इस बात का भी बुरा लगता है। परन्तु सुरजीत से विवाह करने पर शुक्ला अधिक संतुलित हो जाती है। नीलिमा के विदेश जाने पर वह हरबंश का ख्याल भी रखती है।

इस उपन्यास का सर्वाधिक आधुनिक पात्र है सुषमा श्रीवास्तव। प्रत्येक क्षेत्र में वह पुरुष की स्पर्धा करती है। वह दो–टूक बात करने वाली निखालस और प्रबुद्ध महिला है। 'कान्सीक्यूशन हाउस' के अँधेरे बंद कमरे मे वह मधुसूदन के करीब आती है, परंतु उसकी बातों में मधुसूदन को 'पॉलीटिकल सेक्रेट्री' की बातों की गंध आती है। और वह भाग खड़ा होता है। मधुसूदन इस उपन्यास का नेरेटर है। वह शुक्ला, सुषमा आदि के परिचय में आता है, उनकी तरफ आकृष्ट भी होता है, परन्तु अंततः कुस्साबपुरा की ठकुराइन की पुत्री निम्मो को वह अंगीकृत करता है। डॉ. अनीता चौधरी मोहन राकेश के उपन्यासों को अस्तित्ववादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखती हैं। उनके द्वारा इस उपन्यास में– ''नारी पुरुष के बीच बदलते संदर्भ और उनके बीच पनपते अनाम और जटिल रिश्तों की सूक्ष्म व्याख्या मोहन राकेश ने की है। देश विभाजन, शरणार्थी समस्या से उत्पन्न उदार स्वेच्छाचार, द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त हुए औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक युग के परम्पराओं के स्खलन तथा नैतिकताओं की नई व्याख्याओं ने व्यक्ति के अपने अस्तित्व के प्रति भी संकट खड़ा कर दिया तथा वह केवल अपने विषय में ही सोचता है।''[56]

इस प्रकार 'अंधेरे बन्द कमरे' महानगरीय परिवेश के तथाकथित बुद्धिजीवियों के मानसिक द्वन्द्वों और अन्तर्विरोधों को रूपायित करने वाला उपन्यास है। ''यह अँधेरे बन्द कमरे'' उनके अचेतन मानस का ही प्रतीक है।

शहर में घूमता आईना (1963 – डॉ. राही मासूम रज़ा)

प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यास के नायक चेतन के जालन्धर शहर की सड़कों, गलियों, मुहल्लों में बिताये गये बारह घण्टों के दैनन्दिन जीवन को स्मृति रूप में पकड़ने का प्रयास लेखक ने किया है। चेतन ही वह आईना है, जिसके द्वारा हमें जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। आईना यदि साफ हो तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट उभरता है, परन्तु यहाँ चेतनरूपी आईना स्वयं अर्थ एवं यौन की कुण्ठाओं से त्रस्त है, जो मध्यमवर्गीय जीवन को समग्रता में प्रस्तुत न करके उसके आंशिक रूप को ही प्रस्तुत करता है। यहाँ लेखक मध्यवर्गीय जीवन के घिनौने रूप को ही देख पाया है। डॉ. माखनलाल शर्मा के शब्दों में ''जिस समय का यहाँ चित्र दिया है, वह यौन मुक्खड़ों, दम्भियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुचरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाए। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित न होगा।'"[57]

उपन्यास के समर्पण में लेखक ने स्वीकारोक्ति के रूप में लिखा है –''जो लोग सब कुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस उपन्यास में बहुत कुछ नहीं है। यह केवल बीच के लोगों के लिये है।''[58] अतः यह स्पष्ट है कि उपन्यास मध्यवर्ग विशेषतः निम्न मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन को लेकर चलता है। चेतन इस निम्न मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता को अग्रसर करता हुआ दिखता है। उसका व्यक्तित्व 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग' का है। अर्थ और यौन की कुण्ठाओं से ग्रसित है। वह अपनी साली नीला को चाहकर भी नहीं पा सकता, क्योंकि पत्नी के प्रति वफादारी के नाटक को झुठलाना उसके मध्यवर्गीय संस्कारों के विरुद्ध है। आदर्शवादिता एवं इमानदारी की इस झोंक में वह सुन्दरी नीला का विवाह एक अधेड़ भैड़ें एवं भद्दी आकृति के एकाउन्टेन्ट से करवा देता है। परन्तु अवचेतन में बैठी नीला से वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। फलतः उसकी कुण्ठित मानसिकता केवल उन्हीं प्रतिबिम्बों को खींच पायी है जो यौन–क्षुधा से पीड़ित, अस्वस्थ, पागल या नीम पागल है। बद्दा, रामदित्ते, चूनी, फल्गूराम, जगतू आदि ऐसे ही पात्र हैं जो दमित काम–वासना के फलस्वरूप पागल हुए हैं। इस उपन्यास में समलैंगिक आकर्षण के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। बिल्ला, जगना, देबू, प्यारू जैसे जालन्धर के मशहूर गुण्डे, जो अखाड़े के पहलवान भी हैं, लड़कियों की अपेक्षा सुन्दर नमकीन लडकों पर अधिक आकर्षित होते हैं। ''चेतन के पिता

शादीराम भी कृष्ण और राधा का नृत्य करने वाले लड़कों पर अधिक आकर्षित होते थे।''[59] स्वयं चेतन में भी यह वृत्ति है, परन्तु अपने संस्कारों के कारण वह दबा हुआ है। अमीचन्द के मामा सोहनलाल को बुढ़ापे में भी सुन्दर लड़के की आवश्यकता रहती थी जो उनके बिस्तर को गर्म करे।

चेतन की दूसरी कुण्ठा आर्थिक अभावों को लेकर है। वह 'हीनता–ग्रन्थि' का शिकार है। यह ठीक भी है, क्योंकि अभावों में पीड़ित एवं पिछड़ा हुआ व्यक्ति 'हीनता–ग्रन्थि' का शिकार जरुर होता है। वैसे यह ठीक भी है, क्योंकि अभावों में पीड़ित एवं पीछड़ा हुआ व्यक्ति 'हीनता–ग्रन्थि' का शिकार अवश्यमेव होता है। एक समय का मेधावी एवं प्रतिभाशाली चेतन जब देखता है कि पढ़ने में बुद्धि में कम तेज ऐसे हम्मीद, अमीरचन्द, लालू, बनिया आदि क्रमशः रेडियो स्टेशन पर प्रोग्राम असिस्टेंट, डिप्टी कलेक्टर, सिगरेटों के सबसे बड़े एजेंट तथा लेखक हो जाते हैं, तब उसके हृदय की तिक्तता एवं कटुता अत्यधिक बढ़ जाती है। वह सोचता भी है – ''अमरनाथ जिसे स्कूल में लेखक के नाते कोई जानता ही न था, साहिबे किताब हो गया और वह जो अपने आप को कवि, कहानी लेखक और उपन्यासकार और न जाने क्या–क्या समझता था, यों ही लण्डूरा घूमता है।''[60]

लेखक ने इस उपन्यास में मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन का बहुत सटीक चित्रण किया है। जब भी कोई समस्या आती है तो गरीब और उच्च वर्ग तो आसानी से उससे निकल जाता है, लेकिन फँसता है सिर्फ मध्यम वर्ग। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम देख सकते हैं कि इस उपन्यास में चेतन के माध्यम से लेखक ने बौने, अपाहिज, कुण्ठित समाज को चित्रित किया है जो निश्चय ही यथार्थ के समस्त रूप को प्रस्तुत नहीं कर सका है। इस पर व्यंग्य करते हुए डॉ. त्रिभुवन सिंह ने ठीक ही कहा है – ''आइने की अपनी सीमा होती है, वह उतना ही ग्रहण कर सकता है, जितना देख पाता है। उसी प्रकार लेखक की भी अपनी सीमा है, वह उतना ही कह पाया है, जितना की उसने अपनी एक विशेष मनःस्थिति में देखा है।''[61]

उपन्यास के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग–सफल उपन्यास कहा जा सकता है। इतने अल्पकाल में लेखक ने जो देखा और दिखाया है वह इस उपन्यास की सफलता है। इस उपन्यास में साहित्य की सभी विधाओं का बहुत अच्छा प्रयोग किया गया है।

कड़ियाँ (1970–भीष्म साहनी)

कड़ियाँ भीष्म साहनी जी का मर्मस्पर्शी उपन्यास है। इसमें महेन्द्र और प्रमिला के दाम्पत्य की कडियाँ एक बार टूटी तो फिर कभी न जुड़ पायीं। इस उपन्यास में एक परिवार के मानसिक तनावों और उनके बीच से विकसित होने वाली आज के व्यक्ति की प्रेम और पारिवारिक मान्यताओं का बहुत अच्छा चित्रण किया है। महेन्द्र बाहर से शरीफ बनने का प्रयत्न करता है पर भीतर से वह कायर है। आधुनिक जीवन की चमक–दमक से उसकी आँखें चौंधिया गयी हैं। पत्नी प्रमीला प्राचीन बुर्जुआ परम्पराओं में रहनेवाली और अपने घर और बच्चों में खोयी रहने वाली गृहिणी है। वह सुन्दर है पर उसका प्रदर्शन नहीं कर सकती। सेक्स के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ या आधुनिक नहीं कहा जा सकता। उसकी शिक्षा–दीक्षा तथा वातावरण ने उसमें सेक्स के प्रति एक विरक्ति सी पैदा कर दी थी। उसे सुषमा की भाँति यह 'डायलॉग' मारना नहीं आता कि ''तुम्हारे वक्त से जो घड़ियाँ टूटकर मेरी गोद में पड़ जाएँ, मैं उन्हीं से संतुष्ट हूँ।''[62] व्यवहार कुशलता भी उसमें नहीं है। पति से भी ज्यादा वह अपने बेटे पप्पू का ख्याल रखती है और परिणामस्वरूप पति व बेटे दोनों से हाथ धो बैठती है। आज के समय में पति के मन को जीतने के लिए स्त्री को पतिव्रता नहीं अपितु अप–टु–डेट होना पड़ता है। किन्तु प्रमीला अपने पुराने संस्कारों के कारण यह नहीं कर सकती। यही उसकी त्रासदी, यही उसकी मजबूरी है कि वह अपने आप को आज के माहौल के अनुरूप नही ढाल पा रही है। जिसका परिणाम यह होता है कि प्रमीला के व्यवहार के कारण महेन्द्र अपनी ऑफिस की कैशियर मिस सुषमा के प्रति आकृष्ट होता है। वह उसके घर जाने लगता है। महेन्द्र का मित्र तारा जो बीस औरतों के साथ प्रेम कर चूका है और अपने को असली प्रेमी व अफलातून से कम नहीं समझता, कई बार उसे समझाता है कि ''भले ही बीसियों स्त्रियों से सम्बन्ध रखो, पर घरवाली से छिपाए रखो। इसी में सच्ची नैतिकता है।''[63] किन्तु महेन्द्र भावावेश में आकर अपनी पत्नी प्रमीला को सुषमा के सम्बन्ध में बताता है क्योंकि वह स्वयं को अपराधी महसूस करता है। वह प्रमीला से माफी भी माँगता है, किन्तु प्रमीला दाम्पत्य की डोर को ठीक से थामने में चूक जाती है। वह यदि अपने पति को माफ कर देती और उसमें रुचि लेने लगती तो उसकी नाव यों समय से पहले टकराकर चकनाचूर न होती। पर वह अपने पति को भला–बुरा कहती है। उसका सद्व्यवहार जब तिरस्कृत होता है तब उसका 'इगो' जागृत होता है और वह प्रमीला से दूर हो जाता है। प्रमीला अपनी सहेली सतवन्त को सब–कुछ बता देती है जिसका नतीजा यह होता है कि सतवन्त की सिखाई हुई बातों से प्रमीला अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार लेती है। पप्पू को बोर्डिंग में डाल देते हैं। पति–पत्नी की कलह का शिकार पप्पू को होना पडता है। वह मजबूरन

अनाथों सी जिंदगी जीने पर विवश हो जाता है। वह महेन्द्र से सदैव सहमा–सहमा सा रहता है। आठ साल का है पर पेशाब नेकर में कर देता है। इस उपन्यास में बच्चे की दयनीय स्थिति को गहराई से उभारा है। "हर जिन्दगी किसी न किसी खूँटे से बँधी रहे तो वह अपना सन्तुलन बनाए रखती है, खूँटा टूट जाए तो जैसे अधर में लटक जाती है।"[64] महेन्द्र अपना सन्तुलन खो देता है, सुषमा का प्रेम भी शुष्क हो जाता है। वह भी उसे संभाल नहीं पाती है। जिससे महेन्द्र अपने समकक्ष अधिकारियों की पत्नियों पर डोरे डालना शुरु करता है। मिसेज भगत की ओर उसका झुकना इसी ओर संकेत करता है। "सुषमा आधुनिक शिक्षित नौकरीपेशा नारी की विडंबना को गहराई से उतारती है। न चाहते हुए भी उसे व्यभिचारी जिन्दगी को भोगना पड़ता है। महेन्द्र को तो वह मन से चाहती थी पर डिप्टी डायरेक्टर मिस्टर वर्मा जिनके रिटायर होने में केवल दो साल रह गये हैं, उनसे प्रेमालाप करने में तो उसे मतली सी आती थी।"[65]

अतः प्रमीला पागल हो जाती है। उसके बूढ़े पिता नारंग जब लोगों को एफिडेफिट बनाकर दो–चार रुपये कमाने के लिए जाते हैं तब वह दिनभर सड़कों पर चक्कर काटती है। नाटे के द्वारा बेंजो को पुनः एक बार निकट लाने का प्रयत्न होता है। महेन्द्र भावावेश तथा वासना के प्रवाह में बह जाता है, प्रमीला को गर्भ रहता है। अतः उसे पागलों के अस्पताल में भर्ती किया जाता है। डॉक्टर का कहना है कि "सन्तान प्राप्ति के बाद उसकी हाल ठीक हो जायेगी। पर अब महेन्द्र उसे स्वीकार नहीं करना चाहता, उसकी बुद्धि प्रमीला पर संदेह करती है और वह सोचने लगता है कि पागलपन में प्रमीला न जाने किससे मुँह काला कर आयी है।"[66]

प्रमीला पप्पू के लिए तरसती थी, अतः जब वह दूसरे पुत्र को जन्म देती है तब वह साधारण स्थिति में लौट आती है। वह महेन्द्र से अब कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती। उसका आत्मविश्वास भी थोड़ा बढ़ जाता है। अपने पिता नारंग उसे अपने बीमा की सात हजार की राशि दे देते हैं। उससे वह दवाईयों की दुकान खोलना चाहती है और अपने पिता के मित्र के यहाँ दुकान का काम भी सीखती है।

महेन्द्र, प्रमीला, सतवंत, नाटा, सुषमा, नारंग आदि पात्रों का चित्रण बड़े सहज ढंग से हुआ है। लेखक ने बिलकुल सीधे ढंग से कहानी लिखी है। सुषमा और महेन्द्र के संदर्भ में छिपकली के प्रतीक का बड़ा ही सटीक उपयोग लेखक ने किया है।

अतः कड़ियाँ विवाह एवं सेक्स की समस्या पर आधारित टूटते पारिवारिक जीवन की कसक को गहराई से अंकित करता है। टूटते परिवार से बच्चे की असहाय स्थिति को भी इसमें व्यक्त किया गया है। बढते हुए व्यक्तिवाद तथा उसके दुष्परिणामों को यहाँ लेखक ने बखूबी चित्रित किया है। अनेक पप्पू और प्रमीलाएँ इसके शिकार हो रहे हैं।

टूटती सीमाएँ (राजरानी पारिक)

टूटती सीमाएॅ राजरानी पारिक का एक ऐसा ही उपन्यास है जिसमें जीवन के सभी दृष्टिकोण को बताया गया है। सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि लेखिका ने बहुत ही सुन्दर ढंग से इन सभी पहलुओं पर चर्चा की है। इसमें निर्धन परिवार का चित्रण किया गया है – जिसमें भुवन नामक युवक को आर्थिक स्थितियों से जुझते हुए बताया गया है जिसमें उस पर अपने परिवार का बोझ आ गया है। उसके पिता स्कूल में अध्यापक हैं, पिता भास्कर उपाध्याय की विद्वता तथा पांडित्य की धाक पूरे मोहल्ले में हुई थी। शास्त्रार्थ में उनकी तुलना में कोई विद्वान या ज्ञानी नहीं था। सम्भवतः वह विद्यार्जन के स्थान पर अर्थार्जन में लग जाते तो कितने धनिक हो जाते। वह मेधावी, व्यवहारिक बुद्धि वाले व्यक्ति थे। जिस चीज की खोज को वह हेय-समझते रहे, वही उनको नीचा दिखा रही थी। उनकी बेटी सुशीला की सास ने उन्हें 'नीच' कहा। यदि वह धन–धान्य से सम्पन्न होते, तो वही सास उनके चरणों की धूलि को माथे पर लगाकर अपने को कृतार्थ समझती।

भुवन बुद्धिमान और परिश्रमी था। अपनी कक्षा में प्रथम आता। बुद्धि के अतिरिक्त उसको ईश्वरदत्त अन्य गुण भी मिले थे। उसका व्यक्तित्व अति आकर्षक था – उन्नत ललाट, सुन्दर मस्तिष्क, गौरवर्ण और बड़ी–बड़ी आँखें जिनमें जिज्ञासा भरी रहती। उसकी ज्ञानेच्छा प्रबल थी। भास्कर उपाध्याय उसकी उच्च शिक्षा के लिए पर्याप्त धन नहीं जोड़ पाए। दुर्भाग्यवश उनको ऐसा लोभी दामाद मिला जिसकी धनप्राप्ति की अभिलाषा कभी तृप्त नहीं होती थी। पेट काटकर जो पैसा भास्कर उपाध्याय ने बैंक में डाला था, धीरे–धीरे अपने दामाद तथा उसके पिता को देते रहे। उनका दामाद नोटिस दे देता था कि यदि उसको तीन–सौ रूपये महिने के अन्दर न मिले तो वह उनकी कन्या को वापस कर देगा। भास्कर जी इस दुरशंका से चिंतित और व्यथित हो जाते। सुशीला के परित्याग से उनकी बदनामी होगी। सुशीला के जीवन में दुःखों की छाया गहन से गहनतम हो जाएगी। यह भी उनके पूर्वजन्म के पापों का फल था। यदि उन्होंने अच्छे

कर्म किए होते तो शायद उनको ऐसा कष्टदायक दामाद न मिलता। कितनी आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी पिता ने भुवन को कॉलेज और विश्वविद्यालय में पढ़ाया था। उसके लिए विश्वविद्यालय एक स्वप्न ही था। घर के आर्थिक अभाव को देखते हुए विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करना एक असम्भव सी बात थी। उसके पिता भास्कर उपाध्याय म्यूनिसिपल स्कूल के प्रधानाचार्य थे। उन्होंने अपने जीवन की गाढी कमाई अपनी कन्या सुशिला के पाणिग्रहण में लगा दी थी। भुवन ही उनके कुटुम्ब का चिराग था। उनकी इच्छा थी कि भुवन को उच्च शिक्षा दें और वह आई.ए.एस. की परीक्षा में बैठे। उनका स्वप्न था कि वह किसी शहर का कलक्टर बने। उसके चरित्र–निर्माण में उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। ब्रह्म मुहूर्त की घड़ी में वह उसे जगाते और उसकी शिक्षा में सहायता देते।

कुछ समय पश्चात भुवन उच्च शिक्षा के लिए लखनऊ अपने मामा जी के पास चला गया लेकिन मामा जी की भी आर्थिक स्थिति छुपी नहीं थी। उनके लड़के ने स्मगलिंग की और जब सोने के बिस्कुट उसके कोट की जेब में मिले, उसे कैद की सजा मिली। भुवन वहाँ जाकर उन पर बोझ न बना। भुवन को एक मजिस्ट्रेट की लडकी को ट्यूशन पढाने का काम मिल गया। मजिस्ट्रेट साहब अपने खादीधारी सरल प्रकृति के अध्यापक से बहुत प्रसन्न थे। उसके सद्व्यवहार, संजीदगी, वार्तालाप गंभीरता से प्रभावित थे। भुवन के जीवन का लक्ष्य था उच्च शिक्षा अर्जित करना। वह प्रातःकाल उठकर पढ़ाई करता और रात को ट्यूशन के बाद भी पढ़ने में एक–दो घण्टे लगाता।

उनके कक्षा की सुन्दर सहपाठिनी सुन्दर आधुनिक वस्त्र धारण किए उनकी आँखों के सामने गुजरती, तो उन्हें लगता कि वह आकाश–कुसुम हैं। उनके हास्य–परिहास में उन्हें सम्मिलित होने का साहस भी नहीं होता। दूसरी तरफ कीमती वस्त्र, सूट धारण किए रोमियो उनके चारो तरफ ऐसे मँडराते जैसे 'भ्रमर' पुष्प–वाटिका में। ऐसे विद्यार्थी अपनी सुन्दर सहपाठिनों को अपनी कल्पना के सिंहासन पर बैठा सकते थे, उनकी तुलना मन–ही–मन किसी अभिनेत्री से कर सकते थे। उन्होंने अपने घरों में मैले–कुचैले फटे कपड़े पहने ही अपनी मां–बहिनो को देखा था। सबसे अच्छे कपड़े तो कभी सिनेमा जाने, शादी–विवाह में उपस्थित होने के समय में ही प्रयोग करती थीं। उस समय जो कुछ स्वर्णाभूषण उनके पास होते, पहनती थीं। विश्वविद्यालय में कितनी ही ऐसी छात्राएँ, जो एक साड़ी को पहनतीं, तो दुबारा उसका नम्बर शायद छह महिने के बाद आता।

''भुवन सोचता कि क्या वह यह सोचकर ही बैठा रहे कि यह विधि की विडम्बना है, नियति है। सब जनों को समान रूप से देखने वाला न्यायप्रिय भगवान क्या स्वयं इस विषमता का उत्तरदायी है? संसार की सम्पदा गरीबी द्वारा पैदा की गई है। हर मनुष्य का उस पर समानाधिकार होना चाहिए।''[67]

भुवन को पहली बार किसी लड़की ने अपने आकर्षण में बाँधा और वह थी भावना। भावना ने उसे दिल्ली में बुलाया था, अपने जोरबाग में स्थित बंगले का पता भी दिया था। भुवन ने अपने हृदय में भावना की मीठी स्मृति को संजोकर रखा था। भावना उसके लिए एक आकाश–कुसुम थी, उसके हृदय को कोमलता से सींचती रही।

भुवन की एक बहन थी सुशीला जिसे शादी के बाद उसके सास–ससुर तथा पति द्वारा काफी यातनाएँ दी जाती थीं। जब वह गर्भवती होती है तो उस पर झूठा आरोप लगाकर घर से निकाल देते हैं। वह अपने मामाजी के पास लखनऊ आकर रहने लगती है, वहाँ उसे एक पुत्र की प्राप्ति होती है। वह एक स्कूल में अध्यापिका के पद पर कार्यरत हो जाती है। तभी हेमचन्द नामक व्यक्ति जो कि भुवन का दोस्त था वह उससे शादी का प्रस्ताव रखता है, किन्तु वह कहती है – ''मैंने तो मामी जी, इस विषय में कुछ सोचा ही नहीं था। मैं तो नियति से बँधी एक नारी हूँ। पूर्व जन्मों के कर्मो के अनुसार और अपनी नियति में लिखे परिणामों को भोगकर ही इस संसार से जाऊँगी। मैंने हेम जी की सेवा एक भाई के मित्र के नाते की थी। मुझे हेम जी के प्रति आदर है, स्नेह है। मैं विधवा हूँ, मेरे एक पुत्र भी है। मुझे समाज और धर्म की मान्यताएँ भी निभानी हैं।''[68] किन्तु सबके बहुत समझाने के बाद वह हेमचन्द से शादी करने को राजी हो गई।

भुवन की भी भावना से शादी हो जाती है। भावना बहुत अमीर घर की लड़की थी, फिर भी वह भुवन को चाहती है। इसलिए किसी तरह खुशी–खुशी भुवन के साथ रहती है। क्लबों, पार्टियों में जाती है वहाँ ताश खेलती है जो कि भुवन को ठीक नहीं लगता। भुवन आफिस के काम से दिल्ली जाता है। वह एक हफ्ते के लिए दिल्ली जा रहा था। अभी तक इतने दिन शादी के बाद भावना से अलग नहीं हुआ था।

भावना प्रताप कौल के आकर्षक व्यक्तित्व की प्रशंसक थी। उसे आज ऐसा लगा कि वह एक मंत्रमुग्ध हिरणी की तरह एक शिकारी के पास स्वयं चली आई है। प्रताप कौल ने एक क्लब जैसी ड्रिंक उसे और

पिला दी और अपने ड्राईंगरूप में ले गया। ड्राईगरूप सुरुचिपूर्ण ढंग से सुसज्जित था। उसमें रंग–बिरंगे हल्के प्रकाश झलक रहे थे।

प्रताप कौल भावना के धीरे–धीरे नजदीक आता गया। थोड़ी देर में भावातिरेक में भावना को उसने चुम्बनों की बौछार से ढक लिया। भावना को पहले कुछ अजीब रोमांटिक सुखद अनुभव हुआ। नशे में होते हुए भी उसे अपना व्यवहांर अनैतिक लगा। ''नहीं, नहीं, यह ठीक नहीं है।'' चिल्लाकर वह गिर गई। रात में जब उसका नशा उतरा तो उसने देखा कि उसके वस्त्र अस्त–व्यस्त हैं। प्रताप कौल उसके बराबर बड़े आराम से सो रहा था। धीरे–धीरे उसे अपनी स्थिति का अहसास हुआ। उसे स्पष्ट मालूम दिया कि वह अपनी पवित्रता खो चूकी है। क्लब के सदस्य ने एक बार कहा था – ''पत्नी को अपने पति की तरक्की के लिए कितनी कुर्बानी करनी पड़ती है।''

भावना ने भुवन को पूरी कहानी बता दी तथा उसके पाँवों में गिर पड़ी, रोकर कहने लगी 'मुझे माफ कर दो, भुवन। इसमें मेरी गलती न थी। मुझे धोखा दिया गया है।''

भुवन का हृदय कठोर हो गया था। वह वहाँ से चला गया। उसे धीरे–धीरे मासूम अंजली (उसकी बेटी) की याद सताने लगी। वह चुपचाप उससे स्कूल में मिलने जाता। एक दिन भुवन अंजलि के साथ उसके घर गया, भावना को देखते ही भुवन के आँसू बह निकले, दोनों घर के अन्दर पहुँचे। उसने भावना से कहा – ''भावना, तुम देवी हो। निरपराध हो, मुझे माफ कर दो। असली अपराधी मैं हूँ। अब माफी माँगने की मेरी बारी है।''

''तुम भी अजीब आदमी हो। कितने भावुक हो तुम'' भावना बोली।

''अच्छा भावना, हम दोनों अनुभव तथा पश्चाताप की अग्नि में जलकर पवित्र निकले हैं।''

''भुवन अब मुझे बुद्धि आ गई है। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। तुम्हें मेरी आवश्यकता है और मुझें तुम्हारी।''[69] भुवन और भावना का तस्फीहा हो गया। दोनों सुखी जीवन बिता रहे हैं। दोनों की एक इच्छा है – अंजलि को एक नन्हा–मुन्ना साथी मिल जाए।

भुवन बिना चाहे ही विश्वविद्यालय की राजनीति में प्रविष्ट होता गया। विश्वविद्यालय राजनीति के अखाडे बनते जाते हैं, विद्यार्थीगण कूट राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, जिन्हें वह जिस प्रकार चाहें,

नचाते हैं। यदि सत्ताधारी पार्टी को नीचा दिखाना हो तो विद्यार्थियों में हड़ताल कराओ, उनमें असंतोष फैलाओ। बहुत–सी राजनैतिक पार्टियाँ तो विद्यार्थी नेताओं को, यूनियन के परिषदों को धन तथा अन्य लालच से अपने वश में रखती हैं।'' भुवन क्रियात्मक राजनीति से दूर रहना चाहता था।

वह ज्ञानार्थ राजनीति से सम्बन्ध रखना चाहता था। वह जानता था कि उसका दायित्व अपनी बहन के कुटुम्ब, माता–पिता की ओर था। उसको धीरे–धीरे जाति, धर्म, देश, संस्कृति की तरफ भी रुचि बढ़ती जा रही थी। वह विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता, उनके सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष पर विचार करता। वह मानता था कि ज्ञान होना चाहिए। उसके माता–पिता ने उसे कितनी महत्वाकांक्षाएँ तथा अभिलाषाएँ रखकर उसे विश्वविद्यालय में भेजा था, केवल अपने स्वार्थ के लिए नहीं, उसे एक उत्तम नागरिक बनाने के लिए। हॉ, उच्च शिक्षा से उसे अच्छी नौकरी प्राप्त हो सकती थी, किसी राजकीय प्रतियोगिता में बैठकर डिप्टी कलैक्टर या कलैक्टर बन सकता था, या किसी प्राइवेट फर्म में अच्छी नौकरी पा सकता था। वह आया था केवल ज्ञानार्जन के लिए परंतु लखनऊ में आकर उसकी चेतना अधिक व्यापक हो गई थी। यहाँ प्रत्येक आदमी राजनीति के विषय में भाषण देता, भले ही उसका ज्ञान अधूरा हो। भुवन अपने अवकाश का सदुपयोग करता, वह महात्मा गाँधी, नेहरु, मार्क्स, एंजेल, माओ जैसे महान व्यक्तियों की पुस्तकों को पढ़ता। उसका उद्देश्य सक्रिय राजनीति में भाग लेना नहीं था, वरन् अपने राजनैतिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को समझना था।

''हमें हर समस्या पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए। राजनीतिज्ञों की कठपुतली नहीं बनकर रहना चाहिए। वे लोग विद्यार्थी शक्ति का दुरुपयोग कर स्वार्थवश अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं। सत्ताधारी पार्टी को नीचा दिखाने के लिए वे षडयंत्र रच रहे हैं। हम उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर अपना ही अहित कर बैठेंगे।''[70]

अतः टूटती सीमाएँ राजरानी जी का ऐसा पारिवारिक उपन्यास है जिसे पढ़कर ऐसा लगता है जैसे यह हमारे घर ही की समस्या है क्योंकि आज भी दहेज के लिए लड़कियों को तंग करना, उनके परिवार को परेशान करना, ससुराल वाले अपनी शान समझते हैं और उनकी माँगों को पूरा करने के लिए निर्दन परिवार को कितनी ही समस्याओ का सामना करना पडता है।

तीसरा आदमी (1964 – कमलेश्वर)

'तीसरा आदमी' कमलेश्वर जी का एक ऐसा उपन्यास है जो कि पति–पत्नी के अलावा एक दूसरे आदमी पर आधारित है जिससे पति–पत्नी के बीच में दरार आ जाती है और उनका पारिवारिक जीवन पूरी तरह से अस्त–व्यस्त हो जाता है। पति–पत्नी के सम्बन्धों में विश्वास का होना बहुत जरुरी है। इसके अभाव में दाम्पत्य की दीवारें ढहने लगती हैं। तीसरा आदमी की कहानी इन्हीं भयंकर परिणामों की कहानी है। उपन्यास के मुखपृष्ठ पर यह बताया गया है कि ''प्रेम अथवा प्रतिद्वन्द्विता के नाते तीसरा आदमी आदिकाल से स्त्री और पुरुष के बीच आता रहा है, लेकिन कमलेश्वर का तीसरा आदमी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज है।''[71] नरेश, चित्रा और सुमन्त के बीच घूमती यह कहानी अन्य प्रणय–त्रिकोणात्मक कहानियों से भिन्न है। सुमन्त, नरेश का दूरदराज का भाई है अतः चित्रा और सुमन्त में एक स्वाभाविक मैत्री है। नरेश जब तक इलाहाबाद आकाशवाणी में रहा तब तक तो वहाँ के परिवेश के कारण उसका अहं संतुष्ट होता रहा, परन्तु दिल्ली में आ जाने के बाद महानगरीय परिवेश के कारण उसका अहं टूटने लगता है। दूसरी तरफ वह आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह सुमन्त के साथ एक कमरे में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। वह चाहकर भी दिल्ली में अलग नहीं रह सकता। बिना आत्म–निर्भरता के पत्नी पर पूर्वाधिकार असम्भव है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में स्त्रियाँ स्कूलों, कॉलेजों और दफतरों में काम करने लगी हैं और इस प्रकार उनके जीवन में पति के अतिरिक्त एक तीसरे पुरुष का प्रवेश जाने–अनजाने होने ही लगता है। यहाँ महानगर का व्यक्ति उसके साथ समझदारीपूर्वक समझौता कर लेता है। वहाँ ग्रामीण मनोवृत्ति का मध्यवर्गीय पुरुष कुछ हिचक का अनुभव करता है और उसी में वह टूटने लगता है। इस उपन्यास में नरेश का टूटना इसी प्रकार का है। अपने अधिक खुले स्वभाव के कारण सुमन्त चित्रा के अधिक निकट होता जाता है। वैसे भी जब पति–पत्नी एक ही कमरे में किसी अन्य व्यक्ति के साथ रहते हैं, तब उनमें परस्पर की लाज–शर्म वैसे ही कम हो जाती है। अतः सुमन्त और चित्रा की यह बढ़ती निकटता नरेश को काँटे की तरह चुभती थी। आकाशवाणी के काम से जब नरेश को कुछ दिनों के लिए बाहर जाना पड़ता है, तब शक की काली घनी छाया अधिक विस्तृत होने लगती है। नरेश, सुमन्त और चित्रा इन तीनों पात्रों की उस समय की मनोदशा का लेखक ने बड़ा ही सूक्ष्म व मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। यहाँ तक कि चित्रा भी धीरे–धीरे नरेश को सुमन्त जैसी प्रतीत होने लगती है। प्रगाढ़ शारीरिक सम्बन्धों के फलस्वरूप स्त्री–पुरुष के बीच दरार आने लगती है।''[72]

''चित्रा के आसपास मंडराती सुमन्त की यह छाया नरेश को पागल–सा बना देती है। उसके ही शब्दों में – 'रात में .. जब मैं चित्रा को अपनी बाहों में लेता तो एक अजनबी गंध फूटती थी। वह छाया मंडराती हुई कहीं से आती थी और मुझसे पहले उसकी बाहों को जकड़ लेती थी। जब मैं उसकी बाहों पर हाथ रखता तो वहाँ दो हाथ पहले से मौजूद होते थे। वह छाया मुझे चित्रा के पास पहुँचने से रोकती थी। चित्रा की ऑखों में जब मैं झाँकता था तो वहाँ चार आँखें झाँकती होती थीं। चार बाहें उसे कस रही होती थीं, चार होंठ उसे प्यार कर रहे होते थे।''[73]

शक का यह बीज न केवल नरेश–चित्रा के दाम्पत्य को डँसता है, बल्कि वह सुमन्त के जीवन को भी डंस लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का उद्देश्य इसी मध्यवर्गीय मनोदशा और संस्कार को गहराई से एक हल्की विषाक्तता के साथ उभारने का रहा है। आज के मध्यवर्गीय परिवार में किसी भी वस्तु पर किसी का पूर्णाधिकार नहीं होता। यहाँ कपड़े, चप्पल, कमरे सब 'कॉमन' होते हैं। तो पत्नी पर भी पूर्णाधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? वहाँ पत्नी भी सबकी जरुरतों में से एक होती है। परिवार के बीच पत्नी के साथ एकान्त का भाव खलता है तो परिवार से बाहर आकर पत्नी का किसी अन्य से बढ़ता एकान्त मन और आत्मा पर एक भारी बोझ डाल देता है।

लेखक ने मानवीय संवेदना का चित्रण किया है। प्रथम अभाव से टूटती हुई सम्मिलित कुटुम्ब–प्रथा के बीच पनपती हुई व्यक्तिवादी चेतना का परिणाम है, तो दूसरी स्थिति की वेदना, आर्थिक विवशता का। किन्तु यह दोनों स्थितियाँ मध्य–वर्ग से सम्बद्ध हैं। 'तीसरा आदमी' में दिल्ली के निम्न मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन को छोटे–छोटे कमरों के दड़बों में सड़ती हुई जिंदगी की तस्वीर को प्रस्तुत किया है।

विभिन्न स्तरों पर पारिवारिक वर्गीकरण :

अ) कामकाजी महिलाः 1950 में सविंधान के लागू होने पर संवैधानिक दृष्टि से तथा 1956 में हिन्दू कोड बिल के पास हो जाने पर कानूनी दृष्टि से ''भारतीय नारी को पुरुष की भाँति जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रगति के समान अवसर उपलब्ध हुए हैं। लेकिन इसके बावजूद परिवार व समाज में नारी की स्थिति अभी भी दयनीय है। वह पिछड़ी हुई है इसका कारण वह आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई है। वह पुरुष पर निर्भर है। नारी के श्रम को पुरुष से अलगाकर नहीं देखा जाता। उसका श्रम दिखाई नहीं देता।''[74] इसमें कृषकों एव

कुटीर उद्योग चलाने वाले पुरुषों की पत्नियों को लिया जा सकता है। ये स्त्रियाँ अपने पतियों जितना कृषि–कार्य करके, उन्हीं की भाँति रस्सी बंटकर, टोकरियाँ आदि बुनकर भी बेरोजगार हैं। ''भोर से देर रात तक चूल्हे–चौके की परिधि में घूमता स्त्री का सारा श्रम अनुत्पादक बनकर रह जाता है।''[75] महादेवी वर्मा जी ने 'चाँद' की सम्पादिका के रूप में उन्होंने समाज को नारी के महत्व से अवगत कराने के लिए लिखा था कि, ''स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने का मापदंड है।''[76] अर्थात् स्त्री की उपेक्षा या अवमानना करके समाज प्रगति नहीं कर सकता क्योंकि स्त्री 'आधी दुनिया' है, पुरुष की शक्ति है। आवश्यकता है स्त्री के महत्व और स्थान से परिचित होने की। निस्संदेह 'धन कमाकर लाने' के कारण आज नहीं, सदियों से पुरुष की भूमिका अहम् रही है। पुरुष द्वारा उपार्जित धन से ही स्त्री घर चलाती है। अतः उसकी स्थिति गौण मानी जाती है, पुरुष पर आश्रित। लेकिन गहराई से विचार करने पर क्या स्त्री का गार्हस्थिक श्रम पुरुष के धनोपार्जन के लिए किए गए श्रम से किसी भी प्रकार कम या हीन प्रतीत नहीं होता। स्त्री के गार्हस्थिक श्रम को अनुत्पादक मानना सच्चाई से आँख मूँदना है।

महिलाएँ कामकाजी क्यों?

बीसवीं शताब्दी के पूर्व में महिलाओं को पुरुषों के समान नौकरी के अवसर उपलब्ध नहीं थे। डॉक्टर, अध्यापिका, नर्स – यही व्यवसाय उसके लिए प्रतिष्ठित समझे जाते थे। इसके विपरीत, दफ्तर में पुरुष सहकर्मी की बगल में बैठकर क्लर्क का काम करना महिला के लिए अपमानजनकर माना जाता था। दूसरे, उच्च वर्ग व मध्यवर्ग की महिलाओं द्वारा घर पर रहकर या घर से बाहर जाकर अर्थोपार्जन करना उसकी अपनी व परिवार की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा जाता था। समाज के साथ–साथ कानून भी नारी को सभी व्यवसायों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं देता था। 1923 में स्त्रियों को कानूनी व्यवसाय लेने की अनुमति मिल गई थी, लेकिन वह न्यायाधीश का पद ग्रहण नहीं कर सकती थी। भारत–पाक विभाजन के कारण विस्थापित परिवार देश के नए माहौल में पुनर्स्थापित होने के लिए संघर्षरत थे। परिवार के निर्वहण के लिए लगभग सभी सदस्यों को जीविकोपार्जन करना पड़ रहा था। अतः उस दौर में जो भी नौकरी उन्हें मिली, वे ग्रहण करती गईं। इसके दो परिणाम हुए, कामकाजी महिलाओं की संख्या में वृद्धि तथा दफ़्तरों में क्लर्क आदि नौकरियों की सामाजिक स्वीकृति। इस परिवर्तित मानसिकता को 'झूठा सच' उपन्यास में तारा, कनक, प्रभा आदि महिलाओं के माध्यम से बड़ी खूबसूरती से बताया गया है।

"निम्न वर्ग की महिलाओं के सामने मुख्य प्रश्न परिवार की मूलभूत आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने का है तो मध्य वर्ग की शिक्षित महिलओं के सामने प्रश्न परिवार की आर्थिक अवस्था मजबूत करने का है और स्वयं को अभिव्यक्त करने का भी। उच्च वर्ग की महिलाएँ 'अर्थ' के लिए अर्थोपार्जन नहीं करतीं, अर्थोपार्जन करती हैं आत्माभिव्यक्ति के लिए, समाज में अपना महत्व स्थापित करने के लिए अथवा अपना खाली समय व्यतीत करने के लिए।"[77]

समाज का विकसित दृष्टिकोण :

कामकाजी महिलाओं के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदला। स्वतंत्रता से पूर्व मध्यवर्ग एवं उच्च वर्ग की महिला द्वारा नौकरी करना उस महिला एवं उसके परिवार के सम्मान के लिए अच्छा नहीं समझा जाता था। किन्तु आज देश की राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही सामाजिक चिंतन में पर्याप्त अन्तर आया है। अब स्वयं माता–पिता एवं ससुराल पक्ष महिला की नौकरी के हामी हो गए हैं। "प्रोमिला कपूर के सर्वेक्षण के अनुसार 86% नौकरीपेशा महिलाओं के पतियों को उनकी नौकरी पर कोई आपत्ति नहीं है।"[78] महिलाओं की नौकरी के प्रति नई पीढ़ी अर्थात् पति के दृष्टिकोण में ही परिवर्तन नहीं आया है, बल्कि पुरानी पीढ़ी अर्थात् माता–पिता, दादा–दादी के दृष्टिकोण में भी अन्तर देखा जा सकता है। एक समय था जब परिवार मात्र पुत्र की उच्च शिक्षा तथा कैरियर के प्रति चिन्तित हुआ करता था। आज स्थिति बदल गई है। लड़कों की भाँति लड़कियों को भी अपने पैरों पर खड़े होने की प्रेरणा दी जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में स्पर्धा का भाव बढ़ जाने से रोजगार के अवसर सीमित हो गए हैं। अब संतान के व्यावसायिक प्रशिक्षण के प्रति माता–पिता का रुझान बढ़ गया है। यही कारण है कि चाहे आज भी माता–पिता का प्रमुख ध्येय लड़कियों के हाथ पीले कर देना है, फिर भी वे उसे कोई न कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण अवश्य दे देना चाहते हैं। जिससे जरुरत के समय में वे आत्मनिर्भर हो सकें। नर्सिंग, टेलरिंग, बी.एड़. के प्रति झुकाव इसका उदाहरण है। उल्लेखनीय है कि आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखने के कारण महिलाओं की नौकरी के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है, जबकि इसके विपरीत महिलाओं द्वारा नौकरी करने के मूल में परिवार के आर्थिक आधार को दृढ़ करना ही नहीं है, अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसीत करना भी है। जहाँ आर्थिक आधार को मजबूत करने के लिए वे नौकरी करने को बाध्य होती हैं, वहाँ नौकरी उनके लिए स्वेच्छा संग्रहण किया गया व्यवसाय नहीं रहती, बलात् ओढ़ी गई एक जिम्मेदारी बनकर रह जाती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि महिलाओं की नौकरी के प्रति समाज के परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण एक ऐसा वातावरण बन सका जिसमें अधिकाधिक महिलाएँ नौकरी कर सकीं।

कामकाज का मध्यवर्गीय जीवन पर प्रभावः

वर्षो से हमारे समाज में श्रमिक महिलाएँ परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अर्थोपार्जन करती आ रही हैं। कई स्थितियों में वे अपनी अल्पाय से ही घर का भरण–पोषण करती हैं। कारण कुछ भी हो सकता है – पति का व्यसनी होना, लापरवाह होना या निकम्मा होना। फिर भी, परिवार में उनका स्थान गौण रहता है। मार–पीट, गाली–गलौज इनकी रोज–मर्रा की जिन्दगी है। आर्थिक स्वावलम्बन के बावजूद ये महिलाएँ अपनी अस्मिता के प्रति सचेत नहीं। महादेवी वर्मा का यह कथन इन पर पूरी तरह खरा उतरता है कि ''इन महिलाओं के पास न अपना निजी व्यक्तित्व है और न इसे पाने की चाह''[79]

शिक्षित होना तथा मध्यवर्गीय होनाः इन महिलाओं की दो विशेषताएँ हैं जो उन्हें चिंतनशील बनाती हैं, अपनी स्थिति से तनिक ऊपर उठकर सोचने को विवश करती है। अशिक्षित होने के कारण निम्न वर्ग में सोचने की क्षमता नहीं होती। अति सम्पन्न एवं व्यावहारिक जीवनधारा से प्रथक् प्रायः उच्चवर्ग को इसकी आवश्यकता नहीं। शेष रहता है मध्य वर्ग जिसके लिए बेहतर क्षेत्रों में अर्थोपार्जन करने के लिए शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है। शिक्षा ग्रहण करने के उपरांत यह अपनी एक दृष्टि बनाता है। समाज में उपस्थित अन्तर्विरोधों को पकडता है। रुढ़िग्रस्तता एवं आधुनिकता के अन्तर को पहचानता है। इनमें शिक्षा की भूमिका अहम् हो जाती है। जब अपनी जागरुकता के कारण वह परम्परा एवं आधुनिकता मुक्ति एवं बंधन के गुण–दोषों का तुलनात्मक अध्ययन कर एक संतुलित एवं उदार दृष्टिकोण अपनाता है, तब अपने समाज को, अपने युग को निश्चय ही कुछ रचनात्मक देता है। ''भारतीय नवजागरण आन्दोलन मध्यवर्गीय शिक्षित पीढ़ी की चेतना एवं नेतृत्व क्षमता की देन है। आज मध्यवर्गीय नारी ने सिद्ध कर दिया है कि मात्र आर्थिक स्वतंत्रता से समाज में नारी की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए अनिवार्य है, नारी में शिक्षा, जागरुकता एवं अपनी स्थिति पर विचार करने की क्षमता। आज वह भेड़–बकरियों की तरह पशुवत् नहीं जीना चाहती।''[80]

कामकाजी महिला का पारिवारिक जीवन पर प्रभावः

मध्यवर्ग सर्वाधिक रुढ़िवादी वर्ग है। सामाजिक क्रान्ति का अग्रसर होते हुए भी यह क्रान्तिकारी विचारों को सहजता से गले नहीं उतार पाता। आधुनिकता के संस्पर्श के कारण यह जड़ता से मुक्ति अवश्य पाता है, किन्तु धीरे–धीरे। मध्यवर्ग की इन विशिष्ट प्रवृत्तियों के कारण कामकाजी महिला ने पारिवारिक

जीवन में स्वतंत्रता भी पाई है और तनाव भी। दाम्पत्य संबंध परिवार का आधार होते हैं, दाम्पत्य सम्बंधों की सफलता पति–पत्नी की आपसी सूझ–बूझ तथा वैचारिक समानता पर निर्भर करती है। कामकाजी पत्नी दोहरी व्यस्तता के कारण पति से गार्हस्थिक कार्यों में सहयोग की माँग करती है, किन्तु अभी पुरुष लिंगगत श्रम–विभाजन की मान्यता से मुक्त नहीं हो पाया है।

कलारानी के सर्वेक्षण के अनुसार ''अभी केवल पचास प्रतिशत पति ही पत्नी को अपने समकक्ष मानने को तैयार हैं, जबकि सत्तर प्रतिशत महिलाओं में पति के समान स्थान पाने का भाव है।''[81] परिणामस्वरूप दाम्पत्य तनाव बढ़ता है जो धीरे–धीरे दाम्पत्येतर प्रेम सम्बंधों का कारण बनता है। ऐसा पूरी तरह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे अनेक दम्पत्ति भी मिल जाएंगे जो मिलजुल कर पारिवारिक दायित्वों का वहन करते हैं। कामकाज दाम्पत्य सम्बंधों को आमूलचूल परिवर्तित करने वाला घटक नहीं है, मुख्य तत्व है पत्नी पर दोहरे श्रम की थकान के रूप में।

कामकाज का प्रभाव सबसे ज्यादा बच्चों पर पड़ता है। बच्चों की ओर समुचित ध्यान न देने के कारण माताओं में अक्सर अपराध–भावना घर कर जाती है। दूसरे स्वयं को असुरक्षित समझने के कारण बच्चे या तो अतिशय दब्बू हो जाते हैं या शैतान। पिता के संरक्षण, संयुक्त परिवार या क्रेश में पलने वाले बच्चे अवश्य आत्मविश्वास से परिपूर्ण एवं समझदार होते हैं।

'उसका बचपन', 'आपका बंटी', 'मित्रो मरजानी' आदि कितने ही ऐसे उपन्यास हैं जिसमें माता–पिता के खराब सम्बंधों का असर बच्चों पर पड़ता दिखाया गया है।

1971 से 1990 तक के उपन्यासों में परिवार

विकास एक शाश्वत प्रक्रिया है। कोई भी चीज अपनी उसी अवस्था में नहीं रहती, जैसी वह पहले थी, उसमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है। इसलिए विकास परिवर्तन का दूसरा नाम है। कवि प्रसाद ने लिखा है – ''प्रकृति के यौवन का श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल।'' इस तरह विकास की प्रक्रिया बदलती रहती है। साहित्य और समाज के साथ भी यही बात घटित होती है। समय के साथ–साथ साहित्य की सभी विधाओं ने अपने को विकसित किया, परिमार्जित किया। हिन्दी उपन्यास भी इससे अछूता नहीं है। स्वतंत्रता

के बाद भारतीय समाज एवं परिवार में अनेक परिवर्तन हुए। सन् 1960 के आते ही हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक युग प्रेमचन्दकाल, जैनेन्द्र शैली के उपन्यासों का अध्याय समाप्त हो जाता है। एक नये युग की शुरुआत होती है। वह था आधुनिक बोध, आधुनिकता बोध ने साठोत्तर उपन्यासों को वस्तु और शिल्प दोनों आधारों पर नवीन करने का सफल प्रयास किया।

''साठोत्तर उपन्यासकार पारस्परिक रुढ़ियों, संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध दिखाई पड़ता है। आज का उपन्यासकार जरुरत पड़ने पर परम्परा के साथ भी है और नहीं पड़ने पर नहीं भी है। वह पिछली परम्पराओं को नकार कर अपना अलग स्थान बनाने में विश्वास रखता है। साठोत्तर उपन्यासकार प्रयोगवाद का पक्षपाती है। वह यह नहीं सोचता है कि सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से क्या कुरुप है, क्या सुन्दर है, क्या ग्रहणीय है, क्या ग्रहण नहीं करना है। उसका अभिप्राय मात्र जीवन की वास्तविकता तक पहुँचना है।''[82]

आठवें दशक में उपन्यासकार यथार्थ का चित्रण करता है। आधुनिकता के भाव–बोध में भी मूलतः यथार्थ ही है। किन्तु यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं है कि वह किसी के जीवन का भण्डाफोड़ करे। यथाथ का तात्पर्य है जीवन के सत्य की खोज। रहस्यों पर से परदा उठाना यथार्थवादी उपन्यासकार का गुणधर्म है। उपन्यासकार सहजता का भोक्ता होता है, वह उसे झेलता है, वह जख्मों को कुरेदता नहीं, बल्कि उन पर मरहम लगाता है। साठोत्तर उपन्यासकार उपन्यास के ऐसे आकार की तलाश करता है, जो जीवन के सच्चे प्रतिमानों का सही प्रारुप बन सके।

आज भौतिकवाद की प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है, जिससे हमारा जीवन पूर्णतः प्रभावित हो रहा है। इससे हमारे जीवन में मानसिक प्रक्रिया, रुचियों और सम्बन्धों में जटिलता आ गई है। आज व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक अनुभूतियाँ प्रायः एक सी नहीं हैं। वह अपने बाहर से सन्तुलन नहीं रख पाता क्योंकि वह अपने अन्दर की अकलाहट, छटपटाहट, से पीड़ित है। इसलिए वह सामाजिक जीवन के क्षेत्र से त्यागपत्र देना चाहता है। और अपने आप तक ही सीमित रहना चाहता है।

''आज का उपन्यासकार खुद के अनुभव किये हुए और सूक्ष्म तत्वों को रुपायित करता है। इसलिए अब उसकी सोच पुराने तरीकों को स्वीकार नही करती। आज जीने का तरीका बदल गया है। रहन–सहन,

आचार–विचार, रीति–रिवाज, सब कुछ बदल गये हैं। कल तक जो हम अपनाते नहीं थे वह आज अपना रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप वैचारिक क्रांति हुई। पुराने मूल्य टूटने लगे, नये मूल्य बनने लगे।''[83]

साठोत्तर उपन्यासकार ने जीवन को नयी दृष्टि से देखा। परिणामस्वरूप साठोत्तर उपन्यासकार की रचना कथ्य और शिल्प दोनों तत्वों के आधार पर बदल गयी। अब उपन्यास के पीछे छह तत्वों की अनिवार्यता जरुरी नहीं थी। उपन्यास क्षणिक अनुभूति पर सम्भव हो गया।

''आठवें दशक में उपन्यासकार के केन्द्र में नारी मूल बिन्दु हो गयी। उसके लिए तरह–तरह के विचार आने लगे। वे उसके इर्द–गिर्द घूमने लगे और स्वयं नारी पुरुष और अपने बीच की नई स्थिति पर प्रकाश डालने लगी। उषा प्रियम्वदा, मोना गुलाटी, मृदुला गर्ग, मणिका, ममता कालिया आदि लेखिकाओं ने नारी और पुरुष के सम्बन्धों पर नई रोशनी डाली। वह अपने उपन्यासों में खूलकर शब्दों का प्रयोग करने लगे।''[84]

1971 के बाद के उपन्यासों में 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', 'रुकोगी नहीं राधिका', 'आपका बण्टी', 'नरक–दर–नरक', 'उसके हिस्से की धूप', 'पतझड़ की आवाजें', 'दो लड़कियाँ', 'उस तक' आदि ऐसे पारिवारिक उपन्यास हैं जिसमें परिवार से सम्बन्धित सभी अच्छी–बुरी सभी बातों का विश्लेषण किया गया है। नगरीय परिवेश के मूल्यों, उसके अन्तर्विरोधों, उसकी विवशताओं तथा नवीन बौद्धिकता से उद्‌भूत कतिपय नयी समस्याएँ, स्त्री–पुरुष अहम्मन्यता उसके टकराव आदि मुद्दों पर बहुत ही अच्छे ढंग से प्रकाश डाला गया है।

मित्रों मरजानी – कृष्णा सोबती

'मित्रों मरजानी' उपन्यास में कृष्णा जी ने एक पंजाबी परिवार की कथा को लिया है। गुरुदास और धनबन्ती के तीन लड़के बनवारी, सरदारी और गुलजारी – बनवारी की पत्नी सुहागवती घर तथा परिवार को चाहने वाली एक भारतीय नारी है। अपने सास–ससुर में वह अत्यधिक श्रद्धा रखती है। सबसे छोटे गुलजारी की पत्नी फूलावन्ती एक झगडालू और कर्कशा प्रकार की स्त्री है, उसके कारण घर में फूट भी पड़ती है। फुलावन्ती के कहने पर गुलजारी ग्राहकों से रुपये लेकर फुलावन्ती के गहने–कपड़ों में उड़ा देता है। उसके कारण गुरुदास का परिवार ऋण के बोझ से दब जाता है। उस समय सुमित्रावंती (मित्रो) ही अपने परिवार की सहायता के लिए आती है।

'मित्रो मरजानी' स्त्री विपुल वासना को चित्रित करने वाला उपन्यास है। इस उपन्यास में मित्रो एक विपुल वासनावती स्त्री है। यौन–मनोविज्ञान की भाषा में इसी को 'निम्फो' कहते हैं। और उसकी अविरत, अविकल, अमुल काम वासना को 'निम्फोमेनीया' कहते हैं। यदि किसी बच्ची का लालन–पालन गन्दे वासनामस्त वातावरण में होता है तो प्रायः आगे चलकर उस बच्ची का निम्फो में विकास होता है। मित्रो की माँ भी एक आवारा, बदचलन औरत थी जिसका अनेक पुरुषों से शारीरिक सम्बन्ध था। एक दिन मित्रों अपनी जेठानी से अपनी माँ के सम्बन्ध में बताती है – ''सात नदियों की तारु तवे सी काली मेरी माँ और मै गोरी–चिट्टी उसके कोख पडी। कहती है इलाके के बड़भागी तहसीलदार की मुहादरा है मित्रो। अब तुम्हीं बताओ, जिठानी, तुम जैसा सतबल कहाँ से पाऊँ–लाऊँ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता। बहुत हुआ हफ़्ते–पखवाड़े... और मेरी इस देह में कितनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली–सी तड़पती हूँ।''[85] मित्रों के भरपूर वासना–युक्त परिवेश में रहने के कारण वासना की यह न बुझने वाली प्यास पैदा होती है। कई बार कुछ बच्चियों के सम्मुख गन्दे फूहड़ मजाक करती है, अश्लील बातें करती है, इन सबका प्रभाव भी बालिकाओं या किशोरियों के मनोमस्तिष्क पर पड़ता है। जिसकी परिणति इस प्रकार की वृत्ति में होती है।

''मित्रो की यह काम–वासना उसे माँ के द्वारा विरासत में मिली है। हो सकता है उसका पिता भी अत्यधिक कामी हो। माँ के यहाँ उसने उन्मुक्त वातावरण देखा था। खूब स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता से उसने यौवन को भोगा था। विवाह के उपरान्त यदि उसे उसकी काम–वृत्ति को संतुष्टि दे सके ऐसा पति मिला होता तो शायद उसका जीवन–यापन भली–भाँति हो पाता। परन्तु मित्रो जितनी ही कामुक थी, उसका पति सरदारी उतना ही ठण्डा था। अतः मित्रो की कामवासना वह कभी तृप्त नहीं कर सकता। इससे मित्रो चिढ़चिढ़ी रहती है और उसके कारण कुछ वाचाल भी हो जाती है।''[86]

अपनी वाचलता में वह छोटे–बड़ों का भी लिहाज नहीं रखती। एक स्थान पर वह अपनी सास को खरी–खरी सुनाते हुए कहती है – ''मेरा वश चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूँ, पर अम्मा अपने लाड़ले बेटे का भी तो हाड़–तोड़ जुटाओ। निगोड़े मेरे पत्थर के बूत में भी कोई हरकत तो हो।''[87]

उसकी इस अमुक्त काम–वासना की आपूर्ति का आयोजन भी उसकी माँ के द्वारा ही होता है। उसकी

माँ कुछ दिनों के लिए उसे अपने यहाँ बुला लेती है। ''जहरीली आँखों से बालो (मित्रों की माँ) ने लाड़ बरसाया और हाथ में संभाल लड़की को बाहर ले चली... तेरा सिंह तो, वाह वाह मांद में सोया पड़ा है। अब चलकर जरा शेर बब्बर से भी टाकरा कर ले।''[88] इस प्रकार माँ बेटी के लिए सारी तैयारी कर देती है, परन्तु अपनी माँ की आँखों में एक अजीब-सी चमक देखकर वह दौड़कर अपने पति के कमरे में चली जाती है और अन्दर से दरवाजा बन्द कर लेती है। इस प्रकार अंत में मित्रो की समर्पण-भावना प्रबल हो जाती है। ''इसे कृष्णा जी की 'बोल्डनेस' पर भारतीय संस्कारों एवं परम्पराओं की विजय ही मानना चाहिए।''[89]

''मित्रो मांस-मज्जा से बनी एक नारी है, जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना सरिता भी। यह उपन्यास पंजाब की मिट्टी की सही पहचान कराता है। अनेक समस्याओं के रहते हुए भी उसका भरा पूरा प्रसन्न पारिवारिक वातावरण तथा उस पारिवारिक जीवन की महक इस उपन्यास की एक अनन्य उपलब्धि है।''[90]

इसके साथ ही लेखिका ने पंजाब के मध्यवर्गीय व्यापारी समाज के चरित्र को भी बेपर्दा किया है। परिवार का बड़ा भाई बनवारी प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह कर लेता है और तिस पर भी अपने छोटे भाई सरदारी की पत्नी मित्रो से अवैध सम्बन्ध रखता है। वह अपनी नई पत्नी सुहागवंती को कमरे से बाहर भेज देता है और मित्रो को भीतर बुला लेता है। मित्रो उसे अपनी वासना पूर्ति का एक सहारा मान लेती है। क्योंकि उसका पति तो कभी-कभार उसके पास आता है। अपने पति का विश्लेषण करते हुए अपनी जिठानी से वह कहती है-''जिठानी, तुम्हारे देवर-सा बगलोक कोई और दूजा न होगा। न दुःख, न सुख, न प्रीति-प्यार, न जलन-प्यास... बस आए दिन धोलधप्पा... लानत मलानत!''[91]

प्रस्तुत उपन्यास में इस पंजाबी मध्यवर्गीय परिवार के सम्बन्ध में बताया है कि इस वर्ग के पुरुष कामुक तथा व्यभिचारी होते हैं। उन्हें वंश-परम्परा के रक्षण का विशेष मोह होता है। ये घर में भीतर-भीतर हास-परिहास, ऊँच-नीच, पारस्परिक धोखा और आक्रोश का जो वातावरण बनाते हैं, उससे बाहर वालों को सर्वथा अपरिचित रखना चाहते हैं। घर की स्थिति दूसरों पर प्रकट करने में अपनी मानहानि समझते हैं। सरदारी मित्रो के पास जो कभी-कभी जाता है, वह भी बाहर अन्य स्त्रियों पर आसक्त रहता है और नित नए पड़ाव डालता रहता है। और मित्रो को सन्तुष्ट न कर पाने के कारण वह उसे कभी भी मारता-पीटता रहता है। अपनी मर्दानगी के जौहर बाहर दिखाता है। क्योंकि वहाँ उसे किसी प्रकार की फजिहत की चिन्ता

नहीं होती है।

इस प्रकार कृष्णा जी ने पंजाब के एक मध्यवर्गीय परिवार का वहाँ के परिवेश का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है।

पचपन खम्भे-लाल दीवारें – उषा प्रियंवदा (1979)

उषा जी एक जागरुक महिला लेखिका होने के कारण सामाजिक तथा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में नारी के बदलते-बिगड़ते-संवरते अनेक रूपों से वे पूर्णतया अभिज्ञ हैं। इस उपन्यास में उन्होंने नारी-शोषण के नये आयाम को दर्शाया है। नारी का शोषण प्रत्येक युग में हुआ है। आज की शिक्षित नारी जहाँ पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर हुई है, वहाँ उसे इस आत्म-निर्भरता का मूल्य भी चुकाना पड़ रहा है।

'पचपन खम्भे लाल दीवारें' एक ऐसा पारिवारिक उपन्यास है जिसमें लड़की यदि परिवार की सबसे बड़ी लड़की है, उसके भाई-बहन छोटे हैं, पिता निवृत्त, अपाहिज़ या बेरोजगार हैं, ऐसी स्थितियों में लड़की यदि नौकरी करके अपने परिवार को पालती-पोषती है तो उसे एक मानवीय मूल्य कहा जा सकता है। पर लड़की नौकरी करती है, कमाऊ है, अतः उसकी शादी-ब्याह की चिन्ता को छोड़ देना, या कई बार मन ही मन चाहने लगना कि वह विवाह न करे, क्योंकि तब वह आर्थिक सम्पन्नता का दूध देने वाली दुधारू गाय ही न रहेगी, तो वह दृष्टिकोण नितान्त स्वार्थी अमानवीय ही कहा जायेगा।

इस उपन्यास में सुषमा जो कि इस परिवार की बड़ी लड़की है, वह एक कॉलेज में व्याख्याता तथा गर्ल्स हॉस्टेल की वार्डन है। उसमें जिन्दगी जीने की एक भरपूर लगन है। नील नामक एक युवक से उसका प्रेम भी होता है, किन्तु अपनी परिवार-प्रतिबद्धता के कारण वह अपने वैयक्तिक सुख का परित्याग करती है। घर-परिवार की पूरी जिम्मेदारी सुषमा पर ही आ गयी है।

डॉ. घनश्याम मधुप ने इसे प्रियंवदाजी का आदर्शवाद बताया है। उनके शब्दों में –"प्रियंवदा जी का रचनाकार आधुनिक होते हुए भी पुरातनपंथी है। ... वे मूलतः भारतीय होने के कारण कथा के अंत में एक कृत्रिम आदर्श का स्वीकार करती हैं।"[92] उपन्यास में वर्णित सुषमा की स्थिति हमारे मध्यवर्गीय समाज का आंकलन मात्र है। क्योंकि नील सुषमा के परिवार का दायित्व भी वहन करने को तैयार है, परन्तु सुषमा

हमारे समाज क़ी भीतरी स्थितियों से पूर्णतया वाकिफ है। अभी भी हमारे यहाँ यह स्थिति नहीं आई है कि कोई दामाद अपने ससुर के परिवार का सम्पूर्ण बोझ उठाये, और निर्लिप्त भाव से उठाये। शुरु–शुरु में ऐसा हो भी सकता है, परन्तु यौवन के प्रथम ज्वार के समाप्त होने पर ऐसी स्थितियों में विसंवादी स्तर उभरते ही हैं। इसलिए सुषमा का यह निर्णय लेना ठीक ही है। वैसे भी उषा जी के नारी पात्र भावुकता के स्थान पर विवेक का ही वरण करते हैं।

सुषमा अपनी परिवार–प्रतिबद्धता में अपनी वैयक्तिक भावना और प्रेम की बलि चढ़ा देती है। परन्तु इससे वह खुश नहीं है। वह जीना चाहती है, पर जी नहीं सकती। यह उसकी विवशता है। इसीलिए तो वह अपनी एक सहेली मीनाक्षी से कहती है – ''पैंतालीस साल की आयु में मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूँगी... उसे सीने से लगा रखूँगी.. आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटी को लेकर इसी कॉलेज में आओ, तब भी तुम मुझे यहीं पाओगी। कॉलेज के इस पचपन खम्भों की तरह स्थिर, अचल।''[93] वह पचपन खम्भों वाली कॉलेज ही मानो उसकी नियति है। जीवन में बहुत कुछ बदल जायेगा, बह जायेगा, नहीं बदलेगी केवल सुषमा, कॉलेज की उस बिल्डींग की तरह। पचपन खम्भों की तरह उसके जीवन के खम्भे भी निश्चित ही हैं। कॉलेज–बिल्डींग के रंग की भाँति उसके जीवन का भी एक ही रंग होगा –कमाना और कमाकर पैसे घर भेजना। सुषमा की इस निराशा का चित्रण इन शब्दों में हुआ है – ''जीवन की भागदौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुपचाप विलीन हो गये दो वर्ष – और अब तो उसके चारों ओर दीवारें खिंच गई थीं, दायित्व की, कुण्ठाओं की, अपने पद की गरिमा और परिवार की।... कभी–कभी उसका मन न जाने क्यों डूबने लगता। अपने परिवार का सारा बोज अपने ऊपर लिए सुषमा काँपने लगती तब वह चाह उठती कि दो बाँहे उसे भी सहारा देने को इस नीरवता में कुछ अस्फुट शब्द उसे भी सम्बोधन करें।''[94] नील की सबल बाँहों का सहारा कुछ समय के लिए सुषमा के जीवन में सरसता और इस स्निग्धता का सिंचन करता है। अंत में सुषमा नील के भी जीवन से निकल भागना चाहती है। ''डॉ. विमला शर्मा इसे सुषमा की आत्मकुण्ठा का परिणाम मानती हैं।''[95] इसका कारण यह भी है कि सुषमा की पारिवारिक विवशताएँ तथा उसकी आत्मा और विवेक ही हैं जो उसे नील को छोड़ने के लिए मजबूर करती है। सुषमा जिस तरह मन को मारे जिए जा रही है या पल–पल मर रही है, उससे उसके कुण्ठित होने का असर दिखता है।

इसी उपन्यास में संस्कृत की प्राध्यापिका मिस शास्त्री का जो चित्रण मिलता है, वह मानो सुषमा के

भयावह भविष्य का ही संकेत देता है। मिस शास्त्री पैंतालीस साल की हैं, फिर भी अविवाहिता हैं। अतः वे कुण्ठाग्रस्त हो गई हैं। हॉस्टेल की लड़कियों की चिट्ठियों को चोरी–चोरी पढ़ना, दूसरी अध्यापिकाओं के खिलाफ लड़कियों को भड़काना, बेमतलब लड़कियों को डाँटना, हर बात पर चिढ़ना, लड़कियों तथा अध्यापिकाओं के लव–अफेर्स की गोशिप में रात–दिन व्यस्त रहना आदि चीजें उनके कुण्ठित दिमाग का द्योतन करती हैं। इस उपन्यास में सुषमा की माँ का चरित्र इस भौतिक गुण के स्वार्थावरण से मण्डित दिखता है। सुषमा से उसके सम्बन्धों का आधार केवल पैसों का ही रह गया है। उन्हें कभी इस बात का एहसास भी नहीं होता। सुषमा का विवेक–सम्पन्न मन हर त्याग को अपनाता है। वह कभी भी अपनी जिम्मेदारियों से भागती नहीं है। वह बहुत ही कर्तव्यपरायण लड़की है। अपने घर की हालत जानती है। वह जानती है कि छोटे भाई–बहनों को पढ़ाना है। बहनों की शादी भी करनी है। यह बात अलग है कि कई बार अपनी माँ के इस रवैये से वह स्वयं को उपेक्षित महसूस करती है। वह अपना सब कुछ दूसरों पर लुटाती रहती है। खाली होती जाती है और अकेलेपन का अहसास उसे तोड़ता जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने शिक्षित नारी की एक नई त्रासदी को उकेरा है।

जीवन में जवानी का दौर तो आसानी से निकल जाता है, परन्तु माता–पिता के न रहने के बाद साथी–संगियों के आगे निकल जाने पर, भाई–भाभी के साथ एडजस्ट न हो पाने पर, निर्मम एकाकीपन का अजगर समूचे अस्तित्व को निगलने लगता है। हम अपनी वृद्धावस्था में अपनी युवा–पुत्रियों, पोता–पोतियों या नातियों में अपने मन को रमा लेते हैं। परन्तु वह नारी जो किसी भी कारण से अविवाहित रह गई है, अपनी उत्तरावस्था में घुटन–पीडा से गुजरती है। शनै–शनै उसके भीतर की स्निग्धता, कोमलता, सरसता सूखने लगती है और उस रिक्त स्थान में भरने लगती है कर्कशता, कटुता और कठोरता।

प्रस्तुत उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज का आंकलन किया है कि किस तरह परिवार में बड़े बच्चे का आर्थिक शोषण होता है यदि उसके पिता निवृत्त, अपाहिज और बेरोजगार हों। उषा प्रियंवदा द्वारा लिखित 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' द्वारा लेखिका जी ने यह व्यक्त किया है कि आज की नारी प्राचीन नारी से भिन्न है। वह आत्मनिर्भर है, वह पूरे परिवार की जिम्मेदारी उठाने में सक्षम है। इस उपन्यास में यही बताया है सुषमा खुद की परवाह न करते हुए अपने पूरे परिवार की जिम्मेदारी उठाती है। वह वक्त से पहले ही मुरझा गई है। सुषमा ने यौवन की सहज मॉग व आकर्षण को भुलाकर असमय दायित्वों को ओढ लिया है। रिटायर्ड

पिता पक्षाघात से पीड़ित हैं। दो छोटी बहनें व भाई पढ़ रहे हैं। अतः अपने भविष्य को सँवारने के प्रयास में वह कैसे उन सबके भविष्य को मँझधार में छोड़ दे? यही कारण है कि जब उसे दिल्ली के गर्ल्स कॉलेज में प्राध्यापिका की नौकरी मिलती है तो लगता है जैसे, ''तूफान से बचकर उसकी जीवन नौका एक शान्त बन्दरगाह पर आ पहुँची है।''[96]

''कमाऊ बेटी जब परिवार के पोषण का दायित्व अपने कंधों पर लेकर पुत्र की भूमिका में उतरती है तो माता–पिता प्रायः स्वार्थी हो जाते हैं और उसकी ओर से निश्चिन्त भी। सुषमा की माँ सुषमा के ढ़लते यौवन और कौमार्य को देखकर चिन्तित नहीं है। चिन्तित है, यौवन की दहलीज पर खड़ी छोटी बेटी नीरु के विवाह को लेकर। यह अहसास सुषमा के भीतर पीड़ा की सृष्टि करता है। उसे लगता है कि वह पैसा कमाने की मशीन मात्र बनकर रह गई है।''[97] विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ना उसे सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः वह न प्रिंसीपल को नाराज करने की स्थिति में है, और न प्रेमी नील के विवाह–प्रस्ताव को स्वीकार करने की स्थिति में। वह अपनी दृष्टि दो चीजों पर केन्द्रित करने को बाध्य है। अगले साल मिलने वाला सीनियर ग्रेड और वार्डनशिप का अतिरिक्त भत्ता। इसलिए 'पचपन खम्भों और लाल दीवारों वाले उस कॉलेज को वह छोड़ नहीं सकती। यह उसका बन्दीगृह है और नियति भी।''[98]

परिवार के लिए अपने–आप को मिटा देने का भाव कामकाजी महिला के लिए परिचितों में सम्मान व प्रशंसा अर्जित करता है, तो कई बार उसे 'बेचारी' दया का पात्र भी बना देता है। सुषमा की मौसी सुषमा के त्याग की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए नहीं थकती कि ''सुषमा ने तो भाई–बहनों के कारण अपने को मिटा दिया।''[99] कामकाजी पुत्री का माता–पिता के घर में विशिष्ट स्थान होता है। जहाँ पिता किसी कारणवश परिवार का पोषण करने में असमर्थ हो तथा ज्येष्ठ पुत्र आयु में छोटा हो, वहाँ पुत्री को पिता तथा ज्येष्ठ पुत्र की भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है। निस्संदेह ज्येष्ठ पुत्र की भूमिका पुत्री के लिए सम्मान अर्जित करती है। एकमात्र अर्जक सदस्य होने के कारण माता–पिता सहित पूरे परिवार की आँखें उसकी ओर लगी रहती हैं। अन्य पुत्रियों की अपेक्षा कामकाजी पुत्री को महत्व भी अधिक दिया जाता है और उसकी बात का मान भी रखा जाता है। बदले में, कामकाजी पुत्री के दायित्व बढ़ जाते हैं। व्यक्तिगत सुख–दुख की चिन्ता न करके उसे परिवार के कल्याण की चिन्ता करनी होती है। फिर भी, ज्येष्ठ पुत्र से उसकी भूमिका में अंतर है और वह यह कि लाचार माता–पिता स्वार्थातुर होकर उसे पूरी तरह अपनी मुट्ठी में करना चाहते हैं।

पुत्र पर एकाधिपत्य जमाते हुए भी उनकी दृष्टि पुत्र के सुख एवं भविष्य पर अवश्य टिकी होती है। जिसकी परिणति पुत्र के विवाह में देखी जा सकती है। किन्तु कामकाजी पुत्री के विवाह की शारीरिक सामाजिक व नैतिक आवश्यकता के औचित्य को स्वीकारते हुए भी वे उनके विवाह का प्रसंग नहीं उठाना चाहते। कारण है, हमारी सामाजिक व्यवस्था जो विवाह होते ही लड़की तथा उसके धन पर माता–पिता के अधिकार को समाप्त कर देती है। अतः आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह पुत्री पर आश्रित माता के सामने दो विकल्प होते हैं – पुत्री का विवाह करके स्वयं भूखों मरना अथवा उसका शोषण कर परिवार के अन्य सदस्यों का पालन–पोषण करना। प्रायः दूसरा विकल्प अंगीकार किया जाता है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक कामकाजी महिला अनिवार्यत माता–पिता के शोषण का शिकार होती रहेगी। शोषण का स्वीकार या प्रतिकार – बहुत कुछ स्वयं उसकी अपनी मानसिकता पर निर्भर करता है। अतः माता–पिता की शोषणपरक प्रवृत्ति तथा कामकाजी पुत्री के दृष्टिकोण को आधार बनाकर निम्नलिखित वर्गो में कामकाजी महिला का अध्ययन किया गया है। (1) परिवार समर्पिता (2) द्वंद्वग्रस्त मानसिकता (3) विद्रोहिणी (4) पुरुष अधिकारी के साथ सम्बन्ध (5) महिला सहकर्मियों के साथ सम्बन्ध

(1) परिवार समर्पिता :

माता–पिता के शोषण की शिकार कामकाजी पुत्रियों में सुषमा का उल्लेख किया जा सकता है। ''सुषमा गर्ल्स कॉलेज में प्राध्यापिका है, तथा होस्टेल की वार्डन भी। पिता पक्षाघात से पीड़ित हैं, छोटे चार भाई–बहन हैं। माँ स्वार्थी एवं आत्मकेन्द्रित है। प्रारम्भ से ही वह ऐसी थी। अथवा परिस्थितियों ने उसे स्वार्थी व संकीर्ण बना दिया है।''[100] यह निश्चित नहीं, किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वह अवश्य स्वार्थी है। सुषमा की आय से घर चलता है और आय के एकमात्र स्रोत को माँ किसी भी हालत में खोना नहीं चाहती। इसलिए सुषमा के विवाह का प्रसंग भूल कर भी नहीं चलाती। प्रसंग चल भी जाए तो सुषमा पर सारा दोष डाल कर स्वयं एक किनारे हो जाती है कि जब सुषमा ही विवाह करने को राजी नहीं होती तो मैं क्या करूँ। सुषमा माँ की इस निर्लिप्तता के मूल में छिपी विवशता को जानती है। अतः स्वयं ही आगे बढ़कर कोंचने वाले का मुँह बंद कर देती है – ''इन लोगों के लिए कुछ करके मन में बड़ा संतोष–सा होता है। अपने लिए तो सभी करते हैं। छोटे भाई–बहनों का कुछ कर सकूं, उस योग्य भी तो पिताजी ने ही बनाया है।''[101] सुषमा परिवार के लिए कुछ करके संतोष प्राप्ति की बात कहती है, किन्तु वास्तव में वह है नहीं। एक अधूरापन उसे बार–बार कचोटता है। नील से परिचय, परिचय का प्रगाढ सम्बन्ध में बदलना, नील का उसके जीवन

का आधार हो जाना, सुषमा के जीवन के अधूरेपन को भरने लगते हैं। लेकिन सुषमा सुख को उनको आनन्दपूर्वक भोग नहीं सकती। इसके तीन कारण हैं – सर्वप्रथम, पारिवारिक दायित्व उसके व नील के सम्बन्धों में आड़े आ जाते हैं। वह नील के आगे स्वयं को पूरी तरह खोल नहीं पाती। नील को सदा उससे एक ही शिकायत रहती है कि 'मैं तुम्हारे अस्तित्व की केवल एक परिधि ही छू सका हूँ।''[102] दूसरी तरफ सुषमा हीन भाव से ग्रस्त है। हीन भाव का कारण है, नील का उससे पाँच वर्ष छोटा होना। नील के विवाह प्रस्ताव को चाहकर भी वह गम्भीरतापूर्वक नहीं ले पाती क्योंकि उसे भय है, जीवन में कभी नील अपने से बड़ी युवती से विवाह करने की भूल पर पश्चाताप न करे। तीसरे सुषमा लोगों से भय खाती है। वह जिस कॉलेज में नौकरी करती है, वहाँ किसी की निजी जिन्दगी नहीं है। वहाँ व्यक्ति को कॉलेज के अनुशासन और नैतिक वर्जनाओं में बंध कर जीना होता है। सुषमा–नील सम्बन्ध कॉलेज की आचार–संहिता में अपराध है और दण्ड एक है – नौकरी से त्यागपत्र। ये सब कारण मिलकर सुषमा को मानसिक रूप से रुग्ण कर देते है। वह आत्मपीड़न में सुख पाने लगते हैं। कॉलेज उसे बंदीगृह जान पड़ता है और इस बंदीगृह में जीना अपनी नियति। नील इस बंदीगृह से निष्कृति का मार्ग सुझाता है तो अपने तर्कजाल में उलझकर वह उस मार्ग को बन्द कर देती है। नील सुषमा के जीवन के सबसे बड़े दायित्व को अपना दायित्व बनाने को तैयार है। विवाहोपरान्त अपने परिवार के लिए सब कुछ पूर्ववत करते रहने का वचन देता है। माता–पिता, भाई–बहनों के लिए सुषमा की नौकरी करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु वह नील से प्रेम का इतना बड़ा मूल्य चुकाने को नहीं कह सकती। वह जीवन में अपने लिए खुशियों की कल्पना कर सकती है, उन्हें मूर्त रूप नहीं दे सकती। नील से सम्बन्ध तोड़कर वह अपनी सहकर्मियों और छात्राओं को प्रसन्न कर सकती है। इस सम्बन्ध–विच्छेद के पश्चात् सीनियर ग्रेड और वार्डन–शिप का अतिरिक्त भत्ता लेकर अपने परिवार को चिन्तामुक्त कर देना चाहती है। नील को दुत्कारने का वचन देकर नील के माता–पिता को उपकृत कर देना चाहती है। संक्षेप में सुषमा में त्याग व शहादत का इतना अधिक प्राचुर्य है कि जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण उसने खो दिया है।

2. द्वंदग्रस्त मानसिकता:

इस वर्ग की कामकाजी महिलाएँ पारिवारिक दायित्वों के साथ व्यक्तिगत खुशियों तथा भविष्य के प्रति भी सजग हैं। ये महिलाएँ पिता की भाँति परिवार के पोषण का दायित्व अपने कंधों पर लेना चाहती हैं और सामान्य महिला की भाँति विवाह करके अपना अलग घर भी बसाना चाहती है। दोनों इच्छाओ की एक साथ

पूर्ति असम्भव है। अतः विवाह की इंच्छा का परित्याग कर उन्हें अपना सारा ध्यान शुष्क दायित्व निर्वाह पर लगाना पड़ता है। किन्तु इसके बावजूद वे अपने मन को मारने की पक्षधर नहीं हैं। न ही जीवन में घिर आए एकाकीपन और नीरवता से समझौता कर लेना चाहती हैं। इसके विपरीत पुरुष–मित्रों के सांनिध्य में वे वैवाहिक सुख का आनन्द भोग लेना चाहती हैं।

3. विद्रोहिणीः

इस वर्ग की महिलाएँ पारिवारिक दायित्वों तथा निजी खुशियों के बीच भटकते रहने की अपेक्षा किसी एक जगह बैठकर विश्राम कर लेना चाहती हैं। नियति ने यदि उन्हें विषम परिस्थितियों में डाल दिया है, तो क्या चयन का अधिकार भी उनसे छीन लिया है? निःसंदेह माता–पिता, भाई–बहन सब उनके अपने हैं, पर अपना जीवन भी तो अपना है। फिर इसी की उपेक्षा परिवार के सभी सदस्य जब अपने–अपने हितों पर दृष्टि किए बैठे हैं तो एकमात्र वही क्यों आत्मसुख से मुँह मोड़े बैठी रहें, अर्थात् वे भी मानसिक उहापोह की शिकार हैं, किन्तु उनका द्वन्द्व उन्हें चकरघिन्नी की भाँति वर्तुलाकार घुमाकर जहाँ का तहाँ नहीं छोड़ता, एक निर्णय की ओर अग्रसरित करता है, और यह निर्णय है–आत्मसुख की तलाश, अपने भविष्य के प्रति सजगता। एक दृष्टि से ये महिलाएँ घोर व्यक्तिवादी तथा आत्मकेन्द्रित जान पड़ती हैं, किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। इनका निर्णय न आकस्मिक और न व्यक्तिगत सुख की कामना से निस्सरित है, बल्कि दीर्घ शोषण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।

4. कामकाजी महिला : पुरुष अधिकारी के साथ संबंध

अधीनस्थ महिला कर्मचारी को महज एक शरीर समझकर उसका मनमाने ढंग से उपयोग करना आज भी पुरुष अधिकारी अपना अधिकार समझता है। पदोन्नति का आश्वासन, भौतिक सुविधाएँ, आर्थिक सहायता आदि अनेक प्रलोभन देकर वह महिला कर्मचारी का नैकट्य–लाभ प्राप्त करने में सफल भी हो जाता है। इस निकटता के मूल में चूँकि दैहिक आकर्षण होता है, अतः ऊब जाने पर वह किसी दूसरी महिला कर्मचारी पर दृष्टि गड़ाने में कोई बुराई नहीं समझता। स्पष्ट है कि अधिकारी में आज भी सामन्तवादी प्रवृत्ति विद्यमान है जो महिला को असुरक्षित एवं अपराध बोध से ग्रस्त करती है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा उदासीनता का अभिनय कर वह अधिकारी की लोलुप दृष्टि को अनदेखा नहीं करती, बल्कि सुषमा कॉलेज के सेक्रेटरी की बुरी नीयत तथा अपमानजनक प्रलोभनों से घबरा कर पलायन कर जाती है। वह

स्वीकार करती है कि उसके जीवन में ऐसे अनेक अवसर आए जब वह अपने शरीर के मोल से धन और आराम पा सकती थी। लेकिन उसकी दृष्टि में धन से अधिक स्वाभिमान मूल्यवान है। अतः ऐसे प्रलोभनों को ठुकरा कर उसने संघर्ष की राह पकड़ी।

5. महिला सहकर्मियों के साथ सम्बंध:

महिला सहकर्मियों के पारस्परिक सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक चित्रण 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में मिलता है। इस उपन्यास के केन्द्र में है एक गर्ल्स कॉलेज जहाँ की अधिकांश अध्यापिकाएँ अविवाहित हैं। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि किन्हीं कारणवश वे अविवाहित रह गई हैं। उनमें विवाह करने की तीव्र लालसा है। यह स्वाभाविक भी है। चिर–कौमार्य उनमें दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। वे या तो स्वाति की भाँति पुरुष साहचर्य प्राप्त कर अपनी अपूर्ण लालसाएँ पूर्ण कर लेना चाहती हैं, या फिर मिस शास्त्री की भाँति इन लालसाओं को दबा कर अपने भीतर एक कुण्ठा उत्पन्न कर लेती हैं। पहला विकल्प लोक–लाज के कारण सम्भव नहीं। दूसरी स्थिति अधिक हानिकारक है। इससे व्यक्ति का सहज विकास रुद्ध हो जाता है। साथ ही, वह दूसरे के आचरण पर संदेही दृष्टि रखने लगता है। यही कारण है कि सुषमा व नील का निर्दोष प्रणय कॉलेज की अध्यापिकाओं को चुभने लगता है। वे आजीवन प्रेम–सुख से वंचित रही हैं। पुरुष के सांन्निध्य का रोमांच उन्होंने जाना नहीं है। लक्ष्मण रेखा की भाँति नैतिक मर्यादाओं को अपने चारों ओर खींच कर उन्होंने विचरण का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर लिया है। अतः स्वाति व सुषमा दोनों को लेकर वे हृदयहीन हो गई हैं। ''सामाजिक मानदण्डों का जो उल्लंघन करता है, उसे दण्डित होना ही पड़ता है।''[103]

''सुषमा योग्य अध्यापिका है। व्यवहार में मधुर है। कॉलेज के प्रति समर्पित है। प्रिंसिपल उसे बहुत मानती है। वार्डनशिप देकर उसने सुषमा के प्रति अपने हार्दिक उद्‌गारों को व्यक्त किया है। यह बात साथी अध्यापिकाओं को व्यग्र करने के लिए पर्याप्त है। सुषमा के प्रेम प्रसंग को हथियार बनाकर वे उसे ध्वस्त कर देना चाहती हैं। अतः योजनाबद्ध रूप से षडयंत्र की रूपरेखा बनाई जाती है और सुषमा को नील के साथ रंगे हाथों पकड़ लिया जाता है।''[104] भारतीय पुरुष प्रधान समाज के दोहरे मानदण्ड पुरुष के प्रेम को अनैतिक नहीं मानते। यह तथ्य स्त्री के समान दर्जे पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। आखिर सुषमा कामकाज के प्रति समर्पित होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थितियों के समक्ष घुटने टेक देती है। नील के बिछुड़ने की पीड़ा उसे इतना व्यक्तित्वहीन, इतना स्पन्दनहीन कर देती हैं कि उसे अपनी ही आवाज खोखली गूँज भर लगती है।

''रुकोगी नहीं राधिका?'' – उषा प्रियंवदा

'रुकोगी नहीं राधिका?' उच्चवर्गीय सामाजिक चेतना को दर्शाता है। इसमें भारतीय सभ्यता के साथ–साथ पाश्चात्य सभ्यता का समावेश भी इसमें देखा गया है। प्रस्तुत उपन्यास का परिवेश नगरांचल का उच्चवर्गीय परिवार है जिसमें भावहीनता, बौद्धिकता तथा भौतिकता के परिणामस्वरूप पारिवारिक सम्बन्धों की टूटन को भलीभाँति रेखांकित किया गया है। इसमें हमारे देश में परिव्याप्त उच्चवर्गीय लघुताग्रंथि को भी लक्षित किया गया है। हमारे देश के अमीरों में एक ऐसा वर्ग है जो पाश्चात्य जीवन के सभी सही–गलत तौर–तरीकों से चमत्कृत है। वहाँ से आई वस्तु को वह गर्व से अपनाता है तथा उसके प्रदर्शन में गौरव का अनुभव करता है।

इसमें राधिका के पिता एक विश्वविख्यात प्रोफेसर हैं तथा विद्वान हैं। राधिका की माँ का निधन हो चुका है। भाई अपने घर परिवार तथा ससुर–पक्ष के वैभव में खो गया है। ऐसी स्थिति में राधिका का अपने पिता के प्रति झुकना ठीक ही कहा जायेगा। राधिका अपने पिता की विद्वता, शालीनता और सौम्यता से अत्यधिक प्रभावित है। वह हर दृष्टि से अपने पिता को ही एक आदर्श पुरुष के रुप में मानती है। माँ की मृत्यु के पश्चात् वह अपने पिता को उनके कई कार्यो में सहायता भी करती है।

परन्तु उसके पिता जब विद्या नामक एक सुशिक्षित प्रौढ़ महिला से विवाह कर लेते हैं, तब राधिका के मन को ठेस पहुँचती है। उसके मस्तिष्क में अपने पिता की एक आदर्श मूर्ति है, वह खंडित होती है। साधारणतया लड़के का झुकाव माँ के प्रति और लड़की का झुकाव पिता के प्रति रहता है। परन्तु किन्हीं कारणों से यदि लड़के या लड़की में क्रमशः माँ या पिता के प्रति विद्रोह या वितृष्णा की भावना पैदा हो जाय तब बच्चों के मन में एक कुण्ठा ग्रंथि जन्म ले लेती है। इसके कारण ही राधिका डेनियल पिटरसन नामक एक विदेशी पत्रकार के साथ भाग जाती है।

वह अपने इस व्यवहार से अपने पिता को मानसिक आघात देना चाहती है। डैन के साथ भागना क्रिया नहीं, अपितु प्रतिक्रिया है। अतः राधिका डैन के साथ भी सुखी वैवाहिक जीवन नहीं बिता सकती। और अंत में उसे छोड़ देती है। राधिका के आन्तरिक मन का विश्लेषण करते हुए डैन बिल्कुल ठीक कहता है – ''राधिका, तुमने मुझे कभी एक क्षण के लिए भी प्यार नहीं किया। राधिका तुम मुझमें अपने पिता ढूंढ

रही थी, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली गयी थी, पर मैंने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतंत्र व्यक्तित्व हूँ।.... और मैं तुममें अपना खोया यौवन ढूँढ रहा था'। अपनी पत्नी को छोडकर चले जाने की कड़वाहट धोना चाहता था, पर शायद हम दोनों ही सफल नहीं हुए।''[105]

राधिका की दूसरी प्रतिक्रिया उसकी विमाता विद्या के प्रति होती है। विद्या का व्यवहार राधिका के प्रति अच्छा था। वह राधिका को अपनी सहेली मानती है। परन्तु मानसिक ग्रंथियों के कारण राधिका का व्यवहार विद्या के प्रति ठीक नहीं था। विद्या को मानसिक त्रास देने में ही उसे एक विचित्र प्रकार के आनंद का अनुभव होता है।

''रात्रि के उस प्रथम प्रहर में पापा की स्टडी में काम करते हुए राधिका को यह ज्ञान भलीभाँति रहता है कि विद्या अपने कमरे में अकेली है और इससे उसे थोड़ा-सा सुख होता है।''[106]

परन्तु अंत में विद्या द्वारा नींद की गोलियों के खा लेने पर राधिका को पछतावा भी होता है। राधिका का व्यक्तित्व भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है। हालाँकि वह अभी संस्कारगत रुढ़िवादिता के दायरों से एकदम विमुक्त नहीं हुई है। उसकी इस संस्कारगत संकीर्णता का विश्लेषण डैन एक स्थान पर करता है, जो सर्वथा उपयुक्त है। ''माँ के मरने के बाद तुम्हारा पिता के प्रति लगाव बहुत कुछ एबनॉर्मल हो गया। यदि भारतीय परिवेश में तुम्हें प्रारम्भ से ही युवा-मित्र बनाने की सुविधा होती तो ऐसा नहीं होता। तब तुम्हें प्रसन्नता होती कि पिता ने जीवन में फिर सुख पाया।''[107] डैन के अतिरिक्त राधिका के जीवन में आनेवाले दो अन्य पुरुषों में अक्षय और मनीष हैं। मनीष की स्थिति 'प्ले ब्वॉय' टाइप के लोगों की है। भारत आने के पश्चात् राधिका अक्षय के प्रति कुछ झुकती है , दूसरी तरफ अक्षय भी राधिका के चुम्बकीय व्यक्तित्व से प्रभावित तो है परन्तु पुराने दृढ़मूल संस्कारों के कारण वह राधिका के अतीत के प्रति कुछ शंकाकुल है और उसके संस्कार उसे अपनाने में हिचक का अनुभव करते हैं। राधिका की हिचक अपने भविष्यत् को लेकर है, जबकि अक्षय में पुराने पुरुषगत संस्कारो की कुलबुलाहट है। इस मानसिक अस्थिरता की स्थिति में जब उसके पापा का प्रस्ताव आता है कि वह अब वहाँ पहले की तरह रह सकती है, तब राधिका पुनः एक बार प्रतिक्रियायित होते हुए मनीष के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है। राधिका दोनों बार अपने पिता को मानसिक आघात देने के लिए प्रतिक्रियात्मक व्यवहार करती है। हमारे देश में एक ऐसा वर्ग जो पाश्चात्य आयातीत वस्तु को गर्व से

अपनाता है तथा उसके प्रदर्शन में गौरव का अनुभव करता है। ''राधिका की भाभी बड़े उत्साह से उसका स्वागत करती है, इसलिए नहीं कि उसे अपनी ननद से बहुत प्रेम या लगाव है, बल्कि इसलिए कि सभा–सोसायटीओं में 'फॉरिन–रीटर्न' ननद के कारण उसके अहं की तुष्टि होती है। उत्तर भारत में रहने वाले प्रवीण को इस बात का गर्व है कि उसके बच्चे अंग्रेजी के अतिरिक्त दूसरी भारतीय भाषा नहीं जानते। विद्या की बहन रमा को इस बात पर दुख और आश्चर्य होता है कि राधिका विदेश से छाते, घड़ियाँ, लिपस्टिक आदि न लाकर कुछ किताबें, कुछ रंग और कुछ तस्वीरें लेकर आई है।''[108]

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास उच्चवर्गीय पारिवारिक जीवन को उद्‌घाटित करता है। उक्त भावहीन–ताटस्थ्य इसी वर्ग की सीमा या विशेषता है। सबमें एक परायापन, एक नैतिक व्यावहारिकता और तटस्थता है।

'नरक दर नरक' – ममता कालिया (1975)

ममता कालिया द्वारा प्रणीत 'नरक–दर नरक' मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन में व्याप्त नरक के अनेक स्तरों को व्याख्यायित करने वाला उपन्यास है। इसमें हमारे मध्यवर्गीय समाज में व्याप्त बेकारी, परिणामस्वरूप आजीविका के लिए दरबदर भटकना, उससे उत्पन्न खिन्नता, हीनता की भावना तथा जीवन को नरक बनाने वाली विपरीत परिस्थितियों का बड़ा ही सशक्त एवं मार्मिक चित्रण हुआ है।

उपन्यास का नायक जगन उर्फ जोगेन्द्र साहनी एम.ए. अंग्रेजी करके काफी अरसे तक बेकारी की चक्की में पिसता रहता है। अपनी आयु के प्रथम सत्रह वर्ष वह पिता की नौकरी के तबादलों में सामान की तरह एक जगह से दूसरी जगह पार्सल होता रहा है। बाद में उसके पिता इन जानलेवा तबादलों से तंग आकर सरकारी नौकरी को लात मारकर एक प्राइवेट स्कूल में टीचरी की नौकरी कर लेते हैं। उसके बाद ही जगन की पढ़ाई तब कुछ व्यवस्थित ढंग से हो पाती है। अपने वतन चण्डीगढ़ में जगन किरण बजाज नामक एक लड़की से प्रेम करने लगता है। वह भी उसे चाहती है परंतु जगन की बेकारी से तंग आकर किसी और से विवाह–सूत्र में बँध जाती है। अतः जोगेन्दर अनुभव करता था... कड़की में लड़की ज्यादा दिन नहीं टिकती।

एक लम्बे अरसे की बेकारी के बाद बम्बई के एक कॉलेज में जगन को व्याख्याता की नौकरी मिल जाती है। वह परिश्रमी और अध्यवसायी होता है। कर्तव्यबोध से प्रेरित होकर वह परिश्रमपूर्वक अपने

'नोटस्' तैयार करता है, परन्तु अध्ययन में विद्यार्थियों की अरुचि को देखते हुए उसे कई बार निराशा होती है और लगता है कि व्यर्थ ही इतना श्रम किया। इस प्रकार वह भी – "और अध्यापकों की तरह सिर्फ शब्दकोश को ही संदर्भ–ग्रंथ मानना प्रारंभ कर देता है।"[109]

तीन साल पढ़ा लेने के बाद जगन गर्मियों की छुट्टी में 'समर इन्स्टिट्यूट' में अतिरिक्त काम करने के लिए तैयार होता है। 'समर इन्स्टिट्यूट' में दिल्ली से उषा नामक एक लड़की आई थी। वह बड़ी तेज थी। उषा के व्यक्तित्व में एक प्रकार का पैनापन, असहमति तथा चुनौती का भाव था जो जगन को प्रभावित करता है। वह उसके प्रति आकृषित होता है और शीघ्र ही उन्हें शारीरिक स्तर पर एक–दूसरे को परितृप्त करने के अवसर मिलने लगते हैं। अतः वे विवाह कर लेते हैं। विवाह के उपरान्त जिन्दगी की परेशानियों से जगन का वास्ता पड़ने लगता है। अब उसे आटे–दाल का भाव मालूम पड़ता है। 318 का मासिक वेतन पाने वाले जगन को खोलीनुमा मकान के 100 रु. देने पड़ते थे। उसके बाद बम्बई जैसे शहर में 218 रु. में गुजारा करना बडा ही कष्टकर होता था। वह अपनी पत्नी उषा के लिए सोने की जंजीर तो क्या टॉनिक की एक बोटल और बाटा की एक जोड़ी चप्पल तक नहीं ला सकता।

उस पर कॉलेज की गन्दी–घिनौनी जातिवाद से ग्रसित राजनीति जगन को बहुत परेशान करती है। एक बार बीस मिनट देर से आने वाली 'कल्पना' नामक छात्रा को वह कक्षा से बाहर निकाल देता है। इस पर प्रिंसीपल सामंत से उसकी ठन जाती है। अतः कॉलेज–कैन्टीन में हुए उपद्रव के मामले में उसे फँसाकर बिना आरोप–पत्र दिये ही उसे निलम्बित कर दिया जाता है। जगन फिर बेकार हो जाता है। वह सोचने लगता है कि इस देश में यदि अपना भविष्य बनाना हो तो किसी न किसी बड़ी तोप के शरण में आपको जाना ही पड़ेगा। कोई बड़ा व्यापारी, कोई सांसद, कोई एम.एल.ए., कोई मंत्री जी का बाल–सखा, ऐसी कोई भी तोप होनी चाहिए। पर जगन को बड़ी तो क्या, कोई छोटी तोप भी नहीं मिलती। फलतः निराश होकर वह ऊषा के माँ–बाप के पास मथुरा पहुँचता है, जहाँ उसका बड़ा ही ठण्डा स्वागत होता है। थक–हार कर वे चण्डीगढ़ पहुँचते हैं। एक दिन जगन अखबार में एक इश्तिहार पढ़ता है कि इलाहाबाद में कोई अपना प्रेस बेच रहा है। वह अपने अध्यापक पिता से पाँच हजार रुपये माँग लेता है। बाकी रकम किश्तों में चुकाने का वचन देकर वह प्रेस खरीद लेता है। काम चल निकलता है। पर धीरे–धीरे पत्नी उषा से दूर होता जाता है। क्योंकि घर परिवार के लिए उसके पास अब समय ही नहीं होता है। इसी बीच उन्हें एक बेटा भी हो जाता

है। पहले जगन उषा के साथ मित्रवत व्यवहार रखता था, पर अब उषा को लगता है कि जगन की अपेक्षाएँ बदल गई हैं। अब वह उसे अपनी किसी बात में शामिल नहीं करता। इस प्रकार अपनी व्यावसायिक व्यस्तता में जगन पारिवारिक जीवन को बिल्कुल भुला देता है।

यहीं से उपन्यास में एक अन्य दम्पत्ति की कथा शुरु होती है – विनय गुप्ता और सीता गुप्ता की। सीता एक विद्यालय की अध्यापिका है। वह एक अध्ययनशील, उत्साही तथा परिश्रमी महिला है। संस्कृत में एम.ए. होते हुए भी हिन्दी की क्लास लेने में घबड़ाती नहीं है। छात्राओं के साथ न्याय करने के लिए वह स्वयं छात्रा बन जाती है और एक–एक कवि को पढ़ाने के लिए हफ़्तों उसके परिशीलन में डूबी रहती। ''इतना अध्ययन शायद कोई शोध–छात्र भी न करते होंगे, जितना वह लेक्चर तैयार करने में करती।''[110]

और ऐसा नहीं है कि सीता गुप्ता के पास अथाह समय और न्यून दायित्व हैं। तीन बच्चों तथा गृहस्थी के दायित्व में अपने लिए समय निकालना उसके लिए बड़ा मुश्किल होता है। तिस पर पति विनय असहयोगी एवं शंकाशील प्रकृति का है। वह हर बात का हिसाब रखता है। सीता कब जाती है, कब आती है, कितना समय रिक्शे में जाता है। कहने को सीता स्वयं कमाती है पर घर में शासन पति का है। इस पर भी वह उस पर चरित्रहीनता का लांछन लगाता है। सीता इसे बरदाश्त नहीं कर सकती और घर छोड़ने को तैयार हो जाती है। तब विनय ढीला पड़ता है और पत्नी से क्षमा–याचना करता है। आखिर रुपयों के अण्डे देने वाली मुर्गी जो ठहरी। ''सीता विनय के व्यवहार से इतनी क्षुब्ध रहती है कि पत्नी तथा माँ की अपेक्षा स्वयं को विनय की नौकरानी तथा आया समझने लगती है।''[111] ''पति के ऐसे क्रूर, शंकाशील तथा असहयोगी व्यवहार के कारण उसके भीतर की यौनेच्छा भी मर–सी जाती है, अतः बिस्तर में साम्यवाद स्थापित करने की विनय की कोशिशें कई बार बेकार हो जाती हैं।''[112] उसे लेकर उसके मन में कोई कामेच्छा नहीं पनप पाती और वह शनैः शनै 'मनोवैज्ञानिक ठण्डेपन' का शिकार होती जाती है। पति इसे अन्यथा लेने लगता है। उसे उसमें विश्वासघात की बू आने लगती है। वैसे भी यदि स्त्री नौकरी करती है तो पति को भी उसके स्वास्थ्य व आराम की चिन्ता करनी चाहिए, उसे अधिक से अधिक मानसिक प्रेम देकर शारीरिक प्रेम के लिए तैयार करना चाहिए। इसके स्थान पर यदि उसे केवल शरीर ही समझा जाये तो ऐसी स्थिति का निर्माण होता है, क्योंकि शिक्षित व कामकाजी महिला इसे अपना अपमान समझती है।

पति–पत्नी के मध्य शारीरिक सम्बंध उनके भावनात्मक लगाव को पुष्ट करते हैं। शारीरिक नैकट्य मानसिक नैकट्य का कारण बनता है। यौन–सम्बन्धों की अनुपस्थिति पति–पत्नी को अतृप्त छोड़ देती है। जो दाम्पत्य सम्बंधों में शुष्कता उत्पन्न कर देती है। दोहरी भूमिका निभाने में शारीरिक व मानसिक श्रम से क्लान्त कामकाजी पत्नी–पति की इच्छा पर तत्काल समर्पण नहीं कर पाती। कभी–कभी काम भाव के प्रति उसकी उत्कट लालसा समाप्त हो जाती है और पति का आवेगपूर्ण प्रेम उसे वहशी हरकत लगता है। फलतः पति में झुंझलाहट एवं आक्रोश पनपना स्वाभाविक है।

''नरक–दर–नरक की सीता गुप्ता के मन में शारीरिक व मानसिक क्लान्ति तथा पति द्वारा चरित्रहीनता के लांछन लगाए जाने के कारण कोई यौनेच्छा नहीं पनपती। उसे लगता है कि विनय के साथ उसके संबंध में न सम है न योग। अतः उसने विनय के बिस्तर में साम्यवाद स्थापित करने की सब कोशिशें बेकार कर दीं।''[113] प्रिंसीपल सीता गुप्ता दृष्टि में क्रूर एवं दुष्ट है। वह अपनी किन्हीं कुण्ठाओं के कारण चिड़चिड़ी और संदेही हो गई है।

इस प्रकार ऊषा और सीता की समस्याओं में हमें वैपरीत्य मिलता है। ऊषा का पति जगन व्यवसाय में डूबकर पत्नी को भूलता जा रहा था, और विनय की पत्नी सीता नौकरी और घर–गृहस्थी के दोहरे बोझ में दबकर पति से विमुख होती जा रही थी। दोनों के अपने–अपने नरक हैं, अपनी–अपनी यातनायें हैं। सांसारिक और पारिवारिक जीवन में व्यक्ति का यों करते जाना एक नये प्रकार के अजनबीपन के बोझ को गहराता है। आधुनिक जीवन में व्यक्ति का यह अकेलापन उसका अपना एक नरक है। व्यस्तताओं तथा गृहस्थी के दोहरे बोझ से दबकर धीरे–धीरे पति से दूर होती जा रही है। दोनों के अपने–अपने नरक हैं।

आखिर में फिर एक बार जगन के सामने बेकारी की समस्या मुँह खोल खड़ी हो जाती है। उसके बेटे बबलू के हाथ से पानी का ग्लास छूट जाता है। नीचे मुहर्रम का जुलूस जा रहा था। बात का बतंगड़ बनते देर नहीं लगती और कौमी फसाद में जगन के प्रेस को जला दिया जाता है। अतः जगन और उषा का जीवन पुनः बेकारी के नरक में धँसता जाता है। इस प्रकार लेखिका ने इस उपन्यास के जरिये एक पारिवारिक स्थिति का बहुत अच्छा चित्रण किया है।

‘अपने पराए’ – शशिभूषण सिंहल (1987)

यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें पारिवारिक स्थितियों के साथ–साथ समाज की उन बुराईयों को भी बताया गया है जो कि सदियों से हमारे समाज में व्याप्त हैं, जिसे दहेज प्रथा कहते हैं जो कि कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है। हर माँ–बाप अपनी हैसियत से कहीं– ज्यादा दहेज में अपनी बेटी को देते हैं जिसका फायदा ससुराल पक्ष उठाता है। दहेज प्रथा सास–बहू सम्बन्धों में कटुता पैदा करने का एक अन्य कारण है। दहेज को सामाजिक अभिशाप की संज्ञा देकर इसके विरोध में चाहे जितना प्रचार किया जाए, किन्तु अभी भी दहेज को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसलिए पुत्र जन्म के साथ माँ उसके विवाह और ढेर से दहेज की कल्पनाएँ संजोने लगती है। दहेज न लाने वाली बहू के प्रति वह निर्मम हो जाती है। ''वंदिता की सास को लगता है कि 'सूखी लड़की' उनके गले मढ़ कर उनके घरवालों ने सिर की बला टाली है।''[114] विडम्बना यह है कि विरोध के बावजूद भारी–भरकम दहेज अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक है। तीज–त्यौहार पर बहू के मायके से कीमती उपहारों का आना शान की विशेष बात समझा जाता है। वंदिता के बंधु–बांधव अपनी हैसियत से बढ़कर जो करते हैं, वंदिता की सास को वह अपना अपमान लगता है। इसलिए विवाह के समय से ही वंदिता तथा उसके मायकेवालों के लिए एक गाँठ उसके मन में पड़ गई है जो वंदिता के प्रति कटाक्ष तथा षडयंत्र में अपनी झलक दिखाती है।

'अपने पराए' की वंदिता पारिवारिक दबाव के अधीन अनिच्छापूर्वक नौकरी करने वाली महिला का उदाहरण है। वंदिता की सास तथा पति चाहते हैं, वंदिता नौकरी करे। दौड़–धूप करके वे नौकरी का जुगाड़ भी कर देते हैं। वंदिता को तो निर्देश मिले हैं – ''दो बसें बदल कर घर से स्कूल आने जाने के। इन निर्देशों का वह यंत्रवत पालन करती रहती है। बस! यही नहीं, माह के अंत में मिलने वाला वेतन अत्यंत निस्पृह भाव से सास को थमा देती है और उतने ही निस्पृह भाव से नित्य के राह खर्च के लिए दिए जाने वाले पैसे थमा लेती है।''[115]

प्रायः देखा जाता है महिलाएँ पारिवारिक दबाव के अधीन दीर्घकाल तक धन अर्जित करने का माध्यम बनी रहती हैं। नौकरी करने से इन्हें दो लाभ अवश्य हुए हैं। एक इन्हें अपनी नौकरी की उपयोगिता का भान हुआ है और दूसरे, इनका आत्मविश्वास बढ़ा है। दबाव की तह में लिपटी शोषण की गंध को पहचानने की क्षमता इनमें विकसित हुई और उस शोषण का प्रतिकार करने की इच्छा भी है। ''आखिर

वंदिता आर्थिक सुरक्षा के बल पर ससुराल पक्ष की पाशविकता देख उनसे नाता तोड़ लेती है।''[116]

इस प्रकार अनिच्छापूर्वक लादा गया कामकाज इन महिलाओं को भले ही प्रत्यक्षतया लाभान्वित न करता हो, इसके प्रभाव दूरगामी एवं उपयोगी अवश्य होते हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता ने जता दिया है कि आज की नारी पुरानी पीढ़ी की नारी की भाँति, 'घुटना,जुल्म सहना और मरना' – इस क्रम को स्वीकार नहीं करेगी। आज वह अपनी भाग्य–लिपि स्वयं लिखने को समर्थ हुई है।

व्यक्तित्वविहीन पति दाम्पत्य सम्बन्धों को ठोस आधार नहीं दे पाता। संयुक्त परिवार में यह समस्या और भी प्रखर रुप में उभर कर सामने आती है जहाँ पति परिवार के किसी सदस्य के निर्देशों पर चलते–चलते पत्नी के प्रति न्याय नहीं कर पाता। ''वंदिता के असहज दाम्पत्य सम्बन्धों का कारण सास का उसके पति पर हावी होना है। लछमी जी अपनी माँ से इतने अधिक आतंकित हैं कि मुँह खोलकर गलत बात पर भी माँ का विरोध नहीं कर सकते। अतः वंदिता के समर्थन का प्रश्न कहाँ? वंदिता को वे ढाढ़स भी नहीं बंधा सकते। जो कर सकते हैं, वह यही कि वंदिता भी उनकी भाँति ऑख मूँदकर माँ का कहना माने।''[117] वंदिता को लगता है लछमीजी का अपना कुछ भी निजी नहीं है। जो है, सब माँ का है – चिंतन, दृष्टि, बात करने का लहजा तक। अतः वह भावात्मक दृष्टि से पति से जुड़ नहीं पाती। नौकरी उपलब्ध करा दिए जाने पर वह ससुराल वालों के प्रति कृतज्ञ है। किन्तु उसे दुख है कि उसके नौकरीजन्य तनावों को बाँटने की अपेक्षा पति माँ के इंगित पर परोक्ष रूप में उसका शोषण कर रहा है। नौकरी से उसके दाम्पत्य सम्बन्ध अप्रभावित रहते है, किन्तु नौकरी के कारण जितने समय वह घर से बाहर रहती है, उतने समय मानसिक तनाव से मुक्त रहती है। ''वंदिता ने अपने अत्यल्प वैवाहिक जीवन में जिन त्रासद स्थितियों को भोगा है, उनसे आक्रांत हो वह विवाह–बंधन को मन से अस्वीकार कर देती है। वंदिता का पति व्यक्तित्वहीन एवं दब्बू व्यक्ति है और सास लोभी एवं झगडालू। दहेज के लिए वह वंदिता को तरह–तरह के त्रास देती है। चरम परिणति स्टोव से वंदिता के जल जाने में है। अस्पताल से लौटने पर वंदिता की मानसिकता में पर्याप्त परिवर्तन आता है। वह विवाह की अनिवार्यता के प्रति शंकित हो उठती है।''[118] पति व सास उससे क्षमा याचना करते हैं। कोई भी कानूनी कार्यवाही न करने की प्रार्थना करते हैं। वंदिता से घर लौट चलने का आग्रह करते हैं। उदार मन वंदिता उन्हें क्षमा कर देती है, किन्तु घर लौटने के अनुरोध को स्वीकार नहीं कर पाती। शादी की कीमत देकर उसने जो आत्मबल पाया है, वही उसके भविष्य का आधार है। अतः पति से अलग वह स्वतंत्र ढंग से जीवन जीना चाहती है।

प्रायः कहा जाता है कि विवाहोपरान्त महिला का पुनर्जन्म होता है। सर्वथा अपरिचित वातावरण एवं अपरिचित व्यक्तियों के बीच आकर उसे उन्हें प्रसन्न रखना होता है। उसकी स्थिति जड़ से उखाड़ कर अन्यत्र रोपे गए पौधे के समान है। अंतर इतना है कि जहाँ माली उस पौधे की रक्षा हेतु उसकी यथोचित देखभाल करता है, वहीं महिला को बहू, भाभी, पत्नी के रूप में अपनी भूमिका निबाहते हुए परिवार के सभी सदस्यों की अपेक्षाएँ पूरी करनी होती है। सहयोग अथवा सद्भाव की अपेक्षा किए बिना प्रतिकूलताओं को झेलते हुए उसे अपनी जिजीविषा के सहारे जीवित रहना होता है। पति के उपरान्त ससुराल में उसका निकटतम सम्बंध सास से होता है। यह निकटता दोनों को मानसिक रूप से समीप लाने की अपेक्षा अनेक कष्टकर स्थितियों को जन्म देती है। कारण, दोनों में पाया जाने वाला शत्रुभाव है। एक–दूसरे को समझने की अपेक्षा परिवार की सत्ता अपने हाथ में लेने की होड़ दोनों में लगी रहती है। विजेता प्रायः सास होती है, क्योंकि औसत भारतीय युवक माता के प्रति अतिरिक्त श्रद्धाभाव रखता है और माँ एवं पत्नी के बीच कहा–सुनी हो जाने पर अनायास सारी सहानुभूति एवं समर्थन माँ को देता है। इससे जहाँ माँ को पक्ष प्रबल होता है, वहीं परिवार में बहू की अवस्था शोचनीय हो जाती है। ''वंदिता के कष्टों का मुख्य कारण पति लछमीजी की माँ के प्रति अंधभक्ति है। माँ इस बात को जानती है। अतः वंदिता को पूरी तरह अपने नियंत्रण में रखना चाहती है। दूसरे, अपने पति को कन्ट्रोल में रखने के कारण शायद अम्मा जी भी कुछ एग्रेसिव हो चुकी हैं। उन्हें अपनी बात टाले जाना पसंद नहीं।''[119] मायके वालों को दहेज की शेष रकम का भुगतान न करने देकर वंदिता अनायास सीधे सास की टक्कर में आ खड़ी होती है। सास को बहू की इतनी तेजी पसंद नहीं। पुत्र के माध्यम से वह बहू पर क्षमा याचना करने का दबाव डलवाती है। वंदिता की सास घरेलू राजनीति में माहिर है। साम–दाम–दण्ड–भेद की नीति का आसरा लेकर बिगड़ते काम बनाने में वह सिद्धहस्त है। वंदिता जैसी 'अनाथ और नंगे घर' की लड़की को जब वह पूरी तरह अपने इशारों पर नहीं चला पाती तो पुत्र पर पत्नी का गुलाम होने का आरोप लगा परोक्ष रूप से उसे अपने समर्थन के लिए उकसाती है। मातृभक्ति लछमीजी इस आरोप को अपना अपमान समझते हैं। अतः वंदिता पर हाथ उठा माँ के सामने अपने पौरुष और मातृभक्ति का प्रदर्शन करते हैं। कुल मिलाकर सास वंदिता के सहज दाम्पत्य सम्बन्धों के बीच बाधा के समान उपस्थित है।

पति का पत्नी के प्रति उदासीन या विरोधभाव सास को बहू के प्रति प्रायः अनुदार बना देता है। ऐसी स्थिति गैर कामकाजी महिला को भी सास के साथ अप्रिय स्थिति में लाने के लिए उत्तरदायी है। कामकाजी

महिला के कष्ट उससे भी आगे हैं। दिन का अधिकांश भाग घर से बाहर रहने के कारण वह सभी गार्हस्थिक कार्य स्वयं निपटा नहीं सकती। उसकी अनुपस्थिति में सास अथवा किसी अन्य सदस्य को वे कार्य पूरे करने होते हैं। अतः वे अपेक्षा करते हैं कि शाम को लौटकर बहू सारे काम स्वयं निपटाए। इस बात को वे सुविधानुसार भूल जाते हैं कि बहु दिन–भर दफतर में या अपने कार्यक्षेत्र में खट कर आई है। कामकाजी महिला द्वारा इस स्थिति का विरोध करने पर क्लेश की सम्भावना रहती है। विरोध न करने पर वह अत्यंधिक व्यस्तता के कारण मानसिक तनाव एवं चिडचिड़ाहट का शिकार बन जाती है। ''वंदिता दिन भर स्कूल में लडकियों से मगज मारकर और दो–दो बसें बदलकर शाम को लौटती है। हालाँकि नौकरी लगने से पूर्व सास ने घर के दायित्वों को स्वयं सम्भालने का आश्वासन दिया था, किन्तु अब वंदिता से अपेक्षा की जाती है कि शाम को रसोई का काम वह सम्भाले। अतिव्यस्तता तथा तनावग्रस्त माहौल के कारण ससुराल में उसे अपना अस्तित्व कारखानों में लगे एक पुर्जे से अधिक नहीं लगता। फलतः अरुचि तथा थकान, उसे अभी यही दो पहचान सार्थक लगने लगी हैं।''[120]

सास बहू के संदर्भ में तनावग्रस्त संबंधों का दुष्प्रभाव प्रायः बहू पर पड़ता है। ''वंदिता सास से इतना भय खाती है कि उसने अपने आपको सबसे समेट लिया है। घर पर वह अपना अधिकार नहीं मान पाती। ससुराल में अपनी हैसियत मात्र आश्रित की लगती है।''[121] सास के अनुचित हस्तक्षेप के कारण वह पति के साथ भी सहज दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाती।

पति की मृत्यु के बाद वंदिता बिलकुल अकेली पड़ जाती है। वह टूट जाती है। उस समय वंदिता की बेटी नीलिमा उसकी सहायता करती है। वह माँ को ढाढ़स बंधाती है और माँ के हर काम में उसकी मदद करती है।

कई बार प्रारम्भ में नौकरी परिवार की सहायतार्थ की जाती है, किन्तु बाद में वह जीवन तथा अस्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। फलतः कामकाज का मूल उद्देश्य धीरे–धीरे परिवर्तित हो जाता है। विधवा अध्यापिका माँ की सहायता के लिए नीलिमा को नौकरी करना आवश्यक लगता है। अतः इस दिशा में विशेष प्रशिक्षण लेकर वह माँ के ही स्कूल की प्रबंध समिति द्वारा खोले गए एक अन्य स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगती है। यह नौकरी क्रमशः उसे इतना आत्मविश्वास एवं आत्माभिव्यक्ति के अवसर देती है

कि वह इसी में अपना भविष्य खोजने लगती है। नौकरी ने उसे आर्थिक सुरक्षा एवं व्यस्तता दी है। साथ ही जीवन के महत् निर्णय लेने का आत्मविश्वास भी। फिर वह क्यों नौकरी छोड़ने की सोचे? स्पष्ट है कि नीलिमा का माँ की सहायता करने का लक्ष्य शनैः शनैः अस्मिता की पहचान में बदल गया है। इसी झोंक में वह विवाह की अपेक्षा केरियर को प्राथमिकता देने लगती है। – ''मैंने एम.एड़. करके शिक्षाशास्त्र में पीएच.डी. करने का निश्चय किया है। फिर अपनी संस्था की ओर से ट्रेनिंग के लिए विदेश जाऊँगी। लौटकर प्रबन्धकों की योजना के अनुसार संस्था को नई शिक्षा पद्धति के मॉडल के रूप में गठित करना होगा।''[122] ''नीलिमा अपने छात्र–जीवन से अपनी विधवा माँ तथा छोटे भाई–बहनों के प्रति चिन्तातुर रहती है। नौकरी करने के बाद वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र अवश्य हो जाती है, विनोद से प्रेम करने के बाद उससे विवाह करना चाहती है, किन्तु माँ से छिपकर या माँ की इच्छा का विरोध कर नहीं।''[123] आर्थिक स्वावलम्बन से उसने उच्छृंखलता क्रीत नहीं की है, बल्कि परिवार के प्रति और अधिक समर्पित हो गई है।

इस प्रकार 'अपने पराए' बहुचर्चित पारिवारिक उपन्यास है, जिसमें एक मध्यवर्गीय परिवार का सजीव चित्रण किया है।

आपका बंटी – मन्नू भंडारी (1971)

'आपका बंटी' मन्नू भंडारी जी का प्रथम किन्तु बहुचर्चित उपन्यास है। इसमें नगरीय परिवेश और आधुनिकता के कारण हमारे परिवार पर क्या असर पड़ रहा है, उसका बोध कराया गया है। हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें एक विशेष स्थिति में पड़े हुए बच्चे की मनःस्थिति का इतने विस्तृत ढंग से आकलन किया गया है।

इसमें अजय और शकुन जो कि बण्टी के माता–पिता हैं, शिक्षित और स्वतंत्र विचारधारा के हैं। दोनों अहं की भावना से ग्रस्त हैं। दोनों में किसी न किसी बात को लेकर तनाव रहता है और दोनों एक–दूसरे से कटते हैं। शकुन दिल्ली के एक कॉलेज में प्रिंसीपल हो जाती है और अजय को छोड़कर बंटी के साथ दिल्ली में रहने लगती है। प्रिंसीपल के रूप में वह जितनी सख्त है, बंटी की मम्मी के रूप में वह उतनी ही नरम है। शकुन बण्टी के साथ लगभग सात वर्षों तक रहती है। अजय कलकत्ता से बण्टी को मिलने आता है और उसे घुमाने ले जाता है, खिलौने दिलाता है और उसे अपने साथ कलकत्ता चलने को भी कहता है।

पर बण्टी अपनी मम्मी के बिना नहीं रह सकता, इसलिए मना कर देता है। क्योंकि वह चाहता है कि पापा–मम्मी दोनों साथ रहें, वह उनको समझ नहीं पाता है। कुछ समय बाद दोनों में तलाक हो जाता है। वकील चाचा सोचते थे कि बच्चा पति–पत्नी की दूरी को पाटने में सहायक हो सकता है, परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

अजय मीरा के साथ विवाह कर लेता है और शकुन भी अपना भविष्य देखते हुए डॉ. जोशी से विवाह कर लेती है। डॉ. जोशी विधुर हैं तथा उनकी पहली पत्नी से जोत और अभी नामक पुत्र–पुत्री हैं। डॉ. जोशी से विवाह करने के उपरान्त शकुन अपना घर छोड़कर डॉ. जोशी के घर जाकर रहने लगती है। बण्टी को यह सब अच्छा नहीं लगता। जब वह देखता है कि उसकी मम्मी अभी और जोत को प्यार करती है तो वह उसे बर्दाश्त नहीं कर पाता। न ही वह डॉ. जोशी को पापा के रूप में स्वीकार कर पाता है। इस नये घर में, नये वातावरण में वह स्वयं को अकेला महसूस करने लगता है तब उसका व्यवहार मम्मी के प्रति बदल जाता है। अब उसे अपनी मम्मी को दुःख पहुँचाने में सुख की अनुभूति होती है। बण्टी अपने पापा को पत्र लिखता है और अजय आकर बण्टी को ले जाता है। वहाँ वह फिर अपने आपको अकेला महसूस करता है और मीरा को अपनी मम्मी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ आकर उसे मम्मी की बहुत याद आती है। अंत में अजय बण्टी को हॉस्टेल में भेजने की व्यवस्था कर देता है।

इस प्रकार मन्नू भंडारी ने आज के शिक्षित समाज को टूटते हुए वैवाहिक सम्बंधों में पिसते हुए छोटे बच्चे की त्रासदी को गहन संवेदनशीलता के साथ उकेरा है।

आज की प्रमुख समस्या है व्यक्ति के अहं का निरंतर बढते जाना। स्त्री जहाँ एक ओर शिक्षित हुई है, वहाँ उसका अहं भी बढ़ा है। इन दो के अहं–टकराव में बण्टी जैसे बच्चों को बलि का बकरा बनना पड़ता है। वे कहीं के नहीं रहते। उनकी कुण्ठाएँ दूसरे सामाजिक प्रश्नों को पैदा करती है।

''स्त्री–शिक्षा के बढ़ते प्रचार–प्रसार से आधुनिक स्त्री जहाँ आत्म–निर्भर हुई है, वहाँ दूसरी तरफ उसने कतिपय सामाजिक समस्याओं को भी जन्म दिया है। पुरानी अनपढ़, अशिक्षित या रुढ़िवादी संस्कारों से ग्रसित नारी पूर्णतया परावलंबित होने से कई बार अपमानजनक समझौतों को करते हुए भी दाम्पत्य की गाडी खींच ले जाती थी, वहाँ अब आधुनिक स्त्री आर्थिक दृष्टि से स्वनिर्भर होने पर उस प्रकार के समझौतों

को नहीं कर पाती। उसका स्वाभिमान–अहं उसे ऐसा करने नहीं देता। अतः कई बार स्त्री–पुरुष के अहं की टकराहट से उनका दाम्पत्य जीवन खंडित हो जाता है।''[124] परिणामस्वरूप दाम्पत्य की दीवारें धीरे–धीरे ढहने लगती हैं। निर्मल वर्मा के 'वे दिन', मोहन राकेश कृत 'अंधेरे बंद कमरे', भीष्म साहनी कृत 'कड़ियाँ' जैसे उपन्यासों में दाम्पत्य–जीवन की इस टूटन को बताया गया है। इसके कारण उनके बच्चों की जो दयनीय स्थिति होती है, उसे उकेरा गया है।

स्वयं मन्नू जी ने लिखा है – ''मैं दिखाना चाहती थी कि खंडित माता–पिता के बच्चे किन परिस्थितियों से गुजरते हैं। सबका अपना–अपना व्यक्तित्व होता है। इस सारी परिस्थिति में बच्चों पर क्या प्रतिक्रिया होती है यही दिखाना चाहती थी। मैंने ऐसे बच्चों को देखा है, उन्हें बैचेन महसूस किया है। मैं उसी को पाठक तक पहुँचाना चाहती थी।''[125] अजय और शकुन में विवाह–विच्छेद हो जाता है उसके बाद अजय जब कभी आता है, बण्टी को अपने साथ ले जाता है, उसे घुमाता है, ढेर सारे खिलौने और चॉकलेट आदि दिलाता है, परन्तु बण्टी यह नहीं समझ पाता है कि उसके मम्मी और पापा साथ–साथ क्यों नहीं रहते। उसके दूसरे साथियों के माता–पिता तो साथ–साथ रहते है, फिर पापा कभी–कभार आकर क्यों चले जाते हैं? मम्मी पापा के साथ बोलती क्यों नहीं है? ऐसे अनेक प्रश्न उस शिशु–मन में कुलबुलाते हैं परन्तु उसका कोई जवाब उसे नहीं मिलता।

बण्टी प्रायः स्त्रियों के बीच ही रहता है क्योंकि उसकी मम्मी लड़कियों के कॉलेज में काम करती है। अतः वहाँ प्रायः अध्यापिकाओं का ही आना–जाना रहता है। बण्टी रात में शकुन के पास सोता है, दिनभर एक आया के साथ रहता है। वकील चाचा इसलिए चिंतित हैं कि उसको जैसा माहौल मिलना चाहिए, नहीं मिल रहा। वे शकुन को कई बार कहते हैं कि 'ही शुड ग्रो लाइक ए बॉय'। और इसलिए वकील चाचा के समझाने पर ही शकुन कभी–कभी अजय के साथ बण्टी को भेजने के लिए तैयार हो जाती है। अजय के दूसरा विवाह करने के बाद शकुन भी डॉ. जोशी से पुनर्विवाह कर लेती है। बण्टी को यह सब पसंद नहीं आता। बण्टी को शकुन के साथ सोने की आदत है। डॉ. जोशी के घर में बण्टी को अन्य बच्चों के साथ अलग कमरे में सोना पड़ता है। एक दिन रात में बण्टी किसी भयानक स्वप्न से चौंक जाता है, और बगल में शकुन को न देखकर कमरे से बाहर निकल जाता है। दूसरा कमरा खुला था। वहाँ शकुन डॉ. जोशी के साथ थी। दोनों करीब–करीब निर्वस्त्र अवस्था में थे। बण्टी के मनोमस्तिष्क पर इस दृश्य का बडा बुरा

प्रभाव पड़ता है। जो बण्टी पढ़ने में तेज था वह अब पिछड़ता जाता है। क्लास में भी शांत समझा जाने वाला बण्टी अब शरारतें और भौंडी हरकतें करता है। इसका बड़ा प्रतीकात्मक चित्रण मन्नू जी ने किया है ''ड्राइंग के क्लास में जब टेबल पर बोतल रखी जाती है, तब बण्टी अपने विचारों में खो जाता है। उसके सामने अजीब–अजीब दृश्य आने लगते हैं। वह बोतल उलट जाती है और डॉ. जोशी के दो पैरों के बीच लटक जाती है।''[126] इन सब बातों का बण्टी पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वह गंदी हरकतें करता है, रात में बिस्तर पर पेशाब करता है। यह सब देखकर पहले जो शकुन बण्टी को अपने से अलग न करती थी, वह अब उसे अजय के पास भेजने के लिए राजी हो जाती है। वह सोचती है, अजय तो उस दूसरी स्त्री के साथ गुलछर्रे उड़ावे और वह यह सब बरदाश्त करे, आखिर क्यों?

अतः बण्टी को अजय के पास भेजा जाता है। बण्टी वहाँ भी एडजस्ट नहीं हो पाता। अतः अंततोगत्वा उसे हॉस्टेल में डाल दिया जाता है, जहाँ से वह अपने पिता को पत्र लिखता है, जिसमें अंत में 'आपका बंटी' लिखकर पत्र समाप्त करता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि प्रस्तुत उपन्यास खंडित दाम्पत्य की कसक का उतना नहीं है, जितना तड़पते और सिसकते शैशव का है। खंडित दाम्पत्य वाले परिवारों में बच्चे की अवस्था त्रिशंकु–सी हो जाती है और इसलिए उपन्यास के अंत भाग में शकुल कन्फेस करती है ''सच, हम लोग शायद बण्टी को मात्र साधन ही समझते रहे। अपने–अपने अहम्, अपनी–अपनी महत्वाकांक्षाओं और अपनी–अपनी कुण्ठाओं के संदर्भ में ही सोचते रहे। बण्टी के संदर्भ में कभी सोचा ही नहीं।।''[127]

डॉ. मनमोहन सहगल ने प्रस्तुत उपन्यास की समीक्षा करते हुए निष्पादित किया है कि ''श्रीमती मन्नू भण्डारी के सम्मुख बाल–नायक बण्टी से हटर पति–पत्नी के अदम्य अहम् के फलस्वरूप उदित विरोध और उसका घातक परिणाम 'तलाक' विशेष उद्देश्य रहा प्रतीत होता है। विवाह–सूत्र में बँध जाना निश्चय ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि गृहस्थी सुखी व्यतीत होगी। विशेषकर ऐसे विवाहित युगल, जहाँ उभय–पक्ष आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं और शिक्षित होने के नाते अस्वस्थ वाद–विवाद से भी बच नहीं पाते। वहाँ उनमें तीव्र अहम् का होना और एक–दूसरे में सहज विरोध सजग हो जाना अप्राकृतिक नहीं दीख पडता। प्रस्तुत उपन्यास में शकुन और अजय अंत तक एक–दूसरे के अहम् पर चोट पहुँचाने का ही प्रयत्न

करते रहे हैं। शकुन अजय की उपेक्षा करती है, दोबारा विवाह रचाती है, बण्टी को अजय के पास भेजकर उसकी गृहस्थी में दरार पैदा करना चाहती है, या दूसरी और अजय शकुन को नापसंद करता और केवल बण्टी को ही मिलता है, मीरा से दूसरी शादी कर लेता है, बण्टी को ले जाकर शकुन को दुःखी करना चाहता है – यह सब क्या है? निश्चय ही इन सब व्यवहारों में बण्टी नहीं, निजी अहम्, कुण्ठाएँ तथा महत्वाकांक्षाएँ झलकती हैं। शकुन को अपने प्रिंसिपल होने का अभिमान है, अजय का अहम् उसे स्वीकार नहीं कर पाता – टहराहट का परिणाम होता है विलगता।''[128]

संक्षेप में आपका बण्टी नगरीय परिवेश के शिक्षित स्त्री–पुरुषों के अहम् की टकराहट तथा उसके फलस्वरूप बच्चों की दयनीय निस्सहाय अवस्था को हमदर्दी के साथ उकेरित करने वाला एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

पतझड़ की आवाजें – निरुपमा सेवती (1976)

हिन्दी की आधुनिक लेखिकाओं में निरुपमा सेवती अग्रिम पंक्ति में आती हैं। उनके लेखन में नारी–विमर्श के नुकीले कोण उपलब्ध होते हैं। 'पतझड़ की आवाजें' उनका एक प्रमुख उपन्यास है, जिसकी नायिका अनुभा आधुनिक नारी के सत्व और स्वाभिमान का प्रतिनिधित्व करती है। बहुत से लोग आधुनिक लेटेस्ट फैशन और स्वच्छंद मुक्त यौनाचार को ही आधुनिकता के लक्षण मानते हैं। सचमुच की आधुनिकता किसे कहते हैं, हमे अनुभा समझाती है। ''आधुनिकता का अर्थ है 'जागरुकता' दिमाग का खुलापन जो आदमी को दमघोंटू नियमों और सामाजिक कायदों से मुक्त करता है।''[129] निरुपमा सेवती जी ने नारी–शोषण, मध्यवर्गीय संघर्ष, निम्नवर्गीय जीवन की नारकीयता, उच्चवर्ग की उपभोक्ता–मनोवृत्ति और इन सबके बीच नारी चेतना, नारी अस्मिता और उसके गौरव के लिए निरन्तर संघर्षशीलता उनके लेखन के नुकीले आयामों को व्यंजित किया है।

अनुभा का बचपन भयंकर अभावों से गुजरा है। 1947 के कौमी दंगों की हृदय विदारक घटनाओं के विषय में उसने सुना था। उन दंगों में पाकिस्तान से भागते हुए आतताईयों ने उसके परिवार के साथ अमानुषी व्यवहार किया था। रेल के डिब्बे में घुसकर छोटी बहू को घसीटकर बाहर ले गए थे और फिर उस पर बहसीपन और बर्बरता के साथ प्लेटफार्म पर ही अनेक लोगों ने बलात्कार किया था। प्रतिरोध करने

पर अनुभा के भाई को चाकू भोंक दिया गया था। अनुभा ने यह सब देखा नहीं था, पर लोगों के मुँह से सुना था। जिससे अनुभा के मन में सेक्स के प्रति उदासीनता की वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यह उदासीनता टूट सकती थी परन्तु रमनेश के द्वारा उसे जो मानसिक आघात पहुँचता है उसके कारण उसके मन की खाई भरने के बदले और बढ़ जाती है। अनुभा का परिवार निम्न मध्यवर्गीय कोटि में आता है और निम्न मध्यम वर्ग को हमारे यहाँ अनेक आर्थिक, सामाजिक विभीषिकाओं से गुजरना पड़ता है। आर्थिक विपन्नता के कारण अनुभा के परिवार को एक ऐसे मोहल्ले में रहना पड़ता था जो बदनाम था। वहाँ पर वेश्याओं के कोठे थे, इन कोठों के कारण अनुभा तथा उसके परिवार को कई बार बड़ी विचित्र घटनाओं से गुज़रना पड़ता था। अच्छे विस्तारों में अधिक किराया देना पड़ता है और अनुभा का परिवार आर्थिक दृष्टि से उस स्थिति में नहीं था। अतः वे लोग वहाँ रहने के लिए विवश होते हैं। अनुभा की सगाई भी इसी कारण से टूटती है। अतः अनुभा को चाहते हुए भी रमनेश उसे छोड़ देता है। रमनेश एक शिक्षित युवक होते हुए भी दकियानुसी का प्रदर्शन करता है, उससे अनुभा को वितृष्णा लगती है। वस्तुतः रमनेश को चाहिए था कि वह अनुभा के पक्ष में चट्टान की मानिन्द खड़ा रहता, घर परिवार वाले तथा मित्रगण यदि विरोध करते या उस पर हँसते तब भी उसे अनुभा के साथ रहना चाहिए था, परन्तु यहाँ वह भी मिट्टी का माधो सिद्ध होता है और अनुभा को छोड़ अपनी नामर्दगी का परिचय देता है। परन्तु अनुभा आधुनिक समय की एक सुशिक्षित और संघर्षशील महिला है। अपने परिवार को आर्थिक संकट से उभारने के लिए तथा भाई–बहनों के बेहतर भविष्य के लिए वह खूब संघर्ष करती है। घर की स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी कि उसे कॉलेज में पढ़ाया जा सके, परन्तु सबके विरोध के बावजूद वह बी.ए. में दाखिला ले लेती है। बी.ए. की पढ़ाई के साथ–साथ वह टाइपिंग का कोर्स भी करती है, परन्तु घर की स्थिति निरंतर बिगड़ती ही जाती है और फलतः कॉलेज की पढ़ाई को बीच में ही छोड़कर उसे नौकरी करने पर आमादा होना पड़ता है। परन्तु अनुभा दूसरी ही मिट्टी की बनी हुई है, परिस्थितियों के सामने झुकना उसने नहीं जाना है, वह नौकरी के साथ–साथ प्राईवेट तौर पर अपनी पढ़ाई भी जारी रखती है। उसके ऑफिस के दोस्त धीरेन वर्मा रीझू स्वभाव के सज्जन व्यक्ति थे। उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार से अनुभा को मानसिक राहत मिलती है, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं टिकती, क्योंकि वर्मा जी की पत्नी भौतिकवादी प्रकृति की थी, उसे थोड़े में संतोष नहीं होता था। नौकरी तो नौकरी है, उसकी आमदनी बंधी हुई होती है। अतः उसमें बरकत नहीं होती, व्यवसाय में आदमी की आमदनी की कोई सीमा नहीं रहती, वह व्यक्ति की काबिलियत पर आधारित रहती है। फलतः बहुत से महत्वाकांक्षी लोग नौकरियों को परित्याग करके व्यवसाय में कूद पड़ते हैं। यहाँ वर्मा जी संतोषी प्रकृति के व्यक्ति थे, परन्तु

पत्नी के हठाग्रह के कारण नौकरी से त्यागपत्र देकर व्यवसाय में लग जाते हैं। अतः अनुभा को सी.के. के साथ काम करना पड़ता है। वर्मा जी और सी.के. की प्रवृत्ति में जमीन–आसमान का फर्क था। जहाँ वर्मा जी एक सज्जन और गृहस्थ किस्म के आदमी थे, वहाँ सी.के. एक भ्रष्ट, चरित्रहीन और चलता–पुरजा वाला व्यक्ति था। जब अनुभा ने उसके सामने अपनी निवास की समस्या को रखा तो सी.के. ने उसकी मजबूरियों से लाभ उठाना चाहा। वह अनुभा को ऑफिस में प्राइवेट सेक्रेटरी का पद ऑफर करता है, परन्तु नौकरी के अनुबंध में जो शर्तें रखता है, अनुभा की आत्मा को वह स्वीकार्य नहीं होतीं। वह अपनी योग्यता, प्रतिभा और बुद्धि के सहारे आगे बढ़ने में विश्वास करती है, परन्तु पुरुषों के सम्मुख स्त्री की एक ही योग्यता होती है– ''उसकी सुन्दरता, उसका शरीर''।

हमारे यहाँ के भ्रष्ट माहौल में स्त्रियों के लिए केवल प्रतिभा के बल पर आगे बढ़ना मुश्किल सा होता जा रहा है। जो स्त्री अपने शरीर के चेक को भुनाती है, वह आगे निकल जाती है, और जो यह नहीं कर सकती, उसकी नियति में पिछड़ना ही रहता है। अनुभा को भी इन स्थितियों का सामना करना पड़ता है। अनुभा के कार्यालय में ही ऊषा नामक एक दूसरी युवती है, जो सुंदर, महत्वाकांक्षी तथा स्वार्थी महिला है। वह कहती है – ''इस मर्द जाति के साथ तभी सोओ, अगर माल हासिल होता हो या पॉजिशन हासिल होती है।''[130] फलतः अकार्य कुशल तथा कामचोर होते हुए भी जो स्थान अनुभा को मिलना चाहिए था वह स्थान अर्थात् पर्सनल सेक्रेटरी का स्थान ऊषा को मिल जाता है। अपनी कम तनख्वाह में भी वह प्रभुसत्ता सम्पन्न बड़े–बड़े लोगों को दावतें देती है, आयातित महँगी शराबें पिलाती है और यह सब करके समाज में एक पॉजिशन हासिल करती है।

दूसरी तरफ अनुभा को अपने नारी–सम्मान की रक्षा के लिए दो एक नौकरियाँ भी छोड़नी पड़ती हैं। अपने घर के लांछित, घिनौने, गंदे परिवेश के कारण वह उसे भी छोड़ देती है और हॉस्टल में रहने लगती है। वह अपने आस–पास के माहौल तथा नारी के गिरते जीवन मूल्यों से बहुत परेशान व दुःखी रहती है, नौकरी के दौरान उसे तरह–तरह के अनुभव होते हैं। कुछ समय एक प्लास्टिक वर्क्स कंपनी में काम करती थी तब उसने देखा कि ''उस कंपनी का मालिक उसकी स्टेनो को जब–तब अपनी केबिन में बुलाकर उसे अपनी जाँघों पर बिठा लेता था।''[131] उसी प्रकार ''शहर के प्रख्यात सालिसिटर का साहबजादा, साहब की टाइपिस्ट को छुट्टी वाले दिन भी बुला लेता था और देर रात तक उसे अपने ऑफिस में रखता

था।''[132] इन अनुभवों के कारण ''अनुभा के मन में निरन्तर आत्म–मंथन चलता रहता है। सोचती है कि व्यक्ति ने जीवन में उपभोक्ता प्रवृत्ति को इतना प्राधान्य क्यों दे रखा है? इस प्रवृत्ति के कारण अधिकारी–कर्मचारी के संबंधों में भी अर्थशास्त्र के डिमान्ड एन्ड सप्लाई के नियम काम करने लगते हैं, तो मनुष्य की सचमुच प्रतिभा और योग्यता का क्या मूल्य रह जाता? क्या इस प्रकार के वातावरण में नारी अपना सम्मान, अपनी अस्मिता, अपनी व्यक्तिगत पहचान बना सकती है?''[133] यह और अनेकों ऐसे प्रश्न अनुभा की आत्मा को कुरेदते ही रहते हैं।

इस उपन्यास की दूसरी प्रमुख नारी है–सुनीला। सुनीला के पिता का निधन हो गया है और माँ ने संन्यास ले लिया है। वह अपने भाई–भाभी के साथ रहती है और अनुभा के ऑफिस में ही रिसेप्सनिस्ट का कार्य करती है। नौकरी उसके लिए कोई आर्थिक मजबूरी नहीं है, परन्तु घर का कटु वातावरण, निष्क्रियता तथा प्रेम जीवन में मिली हुई असफलता से अपनी वितृष्णा को मिटाने के लिए नौकरी करती है। विजय नामक एक युवक से उसे प्रेम हुआ था। और उस प्रेम के कारण उसे गर्भ भी रहता है परन्तु विजय बच्चे के उत्तरदायित्व को उठाना नहीं चाहता। अतः सुनीला गर्भपात करवाकर उससे मुक्ति पा लेती है। परन्तु विजय से उसे नफरत हो जाती है। उसके कोमल हृदय में ठेस पहुँचती है और प्रेम जैसी भावनाओं से उसका विश्वास उठ जाता है। नौकरी के कारण उसकी मानसिक अवस्था में थोड़ा सन्तुलन आने लगता है, परन्तु उच्चवर्गीय समाज की खोखली मान–प्रतिष्ठा के विचारों के कारण सुनीला अधिक समय तक नौकरी नहीं कर सकती, उसके भाई–भाभी को विशेषतः उसकी भाभी को उसका नौकरी करना खलता है। हमारे यहाँ समाज और जाति में ही वर्गभेद नहीं, नौकरियों में भी वर्गभेद हैं। सुनीला यदि कोई उच्च अधिकारी के पद पर किसी युनिवर्सिटी में प्रोफेसर आदि के पद पर कार्य करती तो शायद भाई–भाभी की प्रतिष्ठा में बट्टा न लगता, परन्तु वह जो नौकरी करती है सामाजिक स्टेटस की दृष्टि से मामूली है। अतः भाई–भाभी के दबावों के आगे झुककर सुनीला को नौकरी छोड़ देनी पड़ती है। उसके बाद उसके भाई–भाभी सुनीला का विवाह कर देते हैं। सुनीला का पति बहुत ही सामान्य सी अभिरुचियों वाला, दकियानुस और पुराने विचारों वाला व्यक्ति है, अधिकार भावना उसमें कूट–कूटकर भरी है और स्त्री को वह पुरुष की सम्पत्ति के अलावा कुछ नहीं समझता। स्त्री मात्र उसके लिए एक 'माल' होती है। दूसरी तरफ सुनीला शिष्ट, संस्कारी, अभिरुचिसम्पन्न, कलासम्पन्न, आधुनिक युवती है। अतः वैचारिक असमानताओं के कारण उस व्यक्ति को ज्यादा समय तक झेल नहीं सकती। अतः उसके वैवाहिक जीवन का अत विवाह–विच्छेद में

आता है और इसी विवाह–विच्छेद की त्रासद स्थितियों के कारण सुनीला नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर लेती है।

अतः 'पतझड़ की आवाजें' एक निम्नमध्यवर्गीय पारिवारिक उपन्यास है जिसमें अनुभा अपने परिवार को आर्थिक संकट से उभारने के लिए तथा भाई–बहनों के बेहतर भविष्य के लिए वह खूब संघर्ष करती है क्योंकि वह आधुनिक समय की एक सुशिक्षित और संघर्षशील महिला है।

बंटता हुआ आदमी – निरुपमा सेवती

अपने दूसरे उपन्यास 'बंटता हुआ आदमी' में निरुपमा जी ने आज के बंटते हुए, खण्ड–खण्ड होते हुए, विभाजित व्यक्तित्व एवं मानसिकता वाले निर्मूल्यित होते हुए जीवन की वेदना को अभिव्यक्ति दी है। इस उपन्यास में सब बँटे हुए हैं, टूटे हुए हैं – सुनन्दा, शरद, धीरज सभी।

इस उपन्यास की एक विशेषता उसका फिल्मी परिवेश भी है। इसमें मोहमयी फिल्मी नगरी–बोलिवूड की यान्त्रिकता, नीरसता, सम्बन्धों का आर्थिक आधार तथा उसकी भ्रष्टता को लेखिका ने बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

'बँटता हुआ आदमी' की सुनन्दा का सारा परिवार – माँ, भाई वह बहनें उसके अपने हैं। मात्र पिता अपने नहीं हैं। उसके अपने पिता उसके बाल्यकाल में स्वर्ग सिधार गए थे। ''सुनन्दा की माँ ने अपने चार बच्चों के कल्याण व गरीबी से छुटकारा पाने के लिए एक ही उपाय सोचा – पुनर्विवाह। किन्तु दुर्भाग्यवश पति रूप में जिस पुरुष का वरण किया, उसने शराब व जुए में लिप्त होकर न केवल सम्पूर्ण परिवार को दरिद्रता के अथाह सागर में डुबोया, बल्कि बड़ी बच्ची सुनन्दा की तरुणाई को भी दाग दिया।''[134] इस प्रकार साढ़े बारह साल की कच्ची उम्र में ही वह शरीर के सौदे की कड़वी सच्चाई को जान जाती है – ''मुझे उसकी हरकतें बुरी लगीं। पर सुनता कौन? वह सारी गरीबी दूर कर सकता था। डैडी को आराम से शराब मिल जाती थी। कितना अच्छा इन्तजाम था... पता है, पता है मैं कितने बरस की थी.. बारह साल सात महीने की...।''[135] यहाँ घर की आर्थिक स्थिति के सुधार तथा अपनी हवसें पूरी करने के लिए सुनन्दा का सौतेला बाप उससे धन्धा करवाता है। ऐसी स्थिति में वह और कर भी क्या सकती थी? दरिद्रता तथा

उससे जुड़े परिवेश तथा स्थितियों के रहते वह अधिक पढ़ भी नहीं सकी थी। अतः उसे कोई अच्छी नौकरी तो मिलने से रही, पर काम उसे हर हालत में पाना था, क्योंकि शराबी–जुआरी अनुत्तरदायी बाप के रहते पूरे परिवार का दायित्व अब उसके निर्बल कन्धों पर आ गया था। अपने भाई–बहनों को मँझधार में छोड़ भी नहीं सकती थी। ऐसी स्थिति में त्याग, बलिदान और उत्सर्ग की भावनाएँ किसी सत्वशील–सृजनशील व्यक्ति में जो उभरती हैं वे सुनन्दा में उभरती हैं और वह सोचती है कि उसकी जिन्दगी तो मिट्टी हो गई, पर अब उसके रहते उसके भाई–बहनों को उस नरक से नहीं गुजरना चाहिए। मिटते–मिटते भी बनाने का एक जो अहसास है, एक जो आत्म–गौरव है, उससे वह वंचित नहीं होना चाहती।

''पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा और 'पतझड़ की आवाजें' की अनुभा आदि की भाँति वह भी अपने परिवार की बेहतरी के लिए कुरबान हो जाती है। परन्तु उसकी स्थिति तो इन दोनों से गयी–गुजरी है, क्योंकि कमसे कम वे पढ़ी–लिखी थीं, अतः उन्हें सम्मानित पद पर नौकरी मिल जाती है। लिहाजा उन्हें केवल अपना मन मारना पड़ता है, आत्मा नहीं। जबकि सुनन्दा को तो अपनी आत्मा, अपनी चेतना को ही खटाना था। उसने धन के अभाव को अच्छी तरह महसूस किया है और वह अब भलीभाँति जान गई है कि, इस इज्जतदार दुनिया की इज्जत धन ही है जिसकी ओट में सारे दुख, अपमान और लांछन छिप जाते हैं। अतः अपनी दरिद्रता को दूर करने के लिए वह अपनी दृष्टि फिल्मी दुनिया पर डालती है, जहाँ अपनी सुन्दरता तथा बोल्डनेस(?) के कारण उसे काम मिल जाता है, और फिल्म उद्योग के जाने–माने लोकप्रिय अभिनेताओं के साथ छः सात फिल्मों के कान्ट्रेक्ट साइन करवाने में वह कामयाब हो जाती है।''[136]

इस प्रकार सुनन्दा साढ़े बारह साल की अवस्था से अपना देह देती आयी थी और उसी के माध्यम से वह फिल्म–लाईन में भी प्रवेश पा जाती है, परन्तु मन का सौदा तो केवल शरदजी के साथ ही था। सुनन्दा उसे तहेदिल से चाहती है। ''सुनन्दा ने उसे वह सबकुछ दिया जिसके लिए वह इतने दिनों से तरस रहा था। और इतने दिनों के बाद लड़की को जीत लेने की भावना जिस्म में नशे की तरह भर रही थी। शरद शादीशुदा होते हुए भी स्त्रीसुख से वंचित रहता है, क्योंकि काम में दिनभर व्यस्त रहता है। अतः सुनन्दा जो फिल्मों में घुसना चाहती थी, उसकी मदद कर उससे शारीरिक सम्बंध जोड़ लेता है। सौदा यहाँ भी है, तथापि वह और लोगों से काफी बेहतर है।''[137]

आज जिस दौर से हम गुजर रहे हैं उसमें व्यक्ति आकण्ठ भ्रष्टाचार में लिप्त है। पूरा समाज ही सड़गल गया है, जहाँ जीवन के एण्टी–मूल्य ही सही जीवन बन गये हैं। कौए मोती का चारा चर रहे हैं और हंस घुन लगे दानों को भी तरस रहे हैं। चापलूसी और सिफारीश का बोलबाला है, जिसके अभाव में प्रतिभाशाली एवं परिश्रमी व्यक्ति को भी काम नहीं मिल रहा है।शरद अपना काम पूरी ईमानदारी, मेहनत व लगन से करता है फिर भी अगली फिल्म में उसे नहीं लिया जाता । अतः वह मनोभंग होकर कहता है– ''पहले की खुशफहमी टूट गई कि जिन्दगी के साँचे खुद तैयार किये जा सकते हैं।''[138]

अतः एक अच्छा प्रतिभाशाली व्यक्ति टूट कर गलत रास्ते पर लग जाता है। वह फिल्म स्मगल करने वाले गिरोह में शामिल हो जाता है। पहले तो उसका ज़मीर हिचकिचाता है, पर फिर धीरज के कहने पर वह उसमें शामिल हो जाता है। धीरज उसका एक सहयोगी है। शरद फिल्मों में एडिटिंग का काम करता था। अतः धीरज शरद को समझाते हुए कहता– ''जनाब, शरद जी, मैंने इतनी भूख, इतनी बेकारी देखी है कि मुझ पर लेक्चरबाजी का असर नहीं होने का। और मैं अपने को जाया नहीं करना चाहता। एक मौका हाथ लग गया है – फिर कब मिलेगा जिंदगी मे इतना रुपया।''[139]

'पतझड़ की आवाजें' की अनुभा जहाँ कोई समझौता नहीं करती और अपनी नौकरी तथा प्रमोशन में कहीं भी देह को माध्यम नहीं बनाती, वहाँ 'बंटता हुआ आदमी' की सुनन्दा को पग–पग पर अपनी सुन्दरता तथा देह के चेक को भुनाना पड़ता है। देह को माध्यम बनाकर अर्थोपार्जन करना 'बंटता हुआ आदमी' की सुनन्दा की विवशता है। अतः कह कते हैं कि सुनन्दा और शरद के व्यक्तित्व की चेतना के बंटने और बिखरने की कथा–व्यथा को कहने वाला उपन्यास है। एक देह विक्रय करती है, शरीर बेचती, दूसरा प्रतिभा। एक शारीरिक व्यभिचार है तो दूसरा आत्मिक और मानसिक।

'बेघर' – ममता कालिया–1971

ममता कालिया का यह उपन्यास हमारे समाज में व्याप्त मध्यकालीन संकीर्णता और दकियानूसी विचारों के परिणामों को व्यंजित करता है। इस उपन्यास का नायक परमजीत एक अर्द्धशिक्षित अधकचरी मानसिकता से युक्त, कच्ची–पक्की अंग्रेजी बोलनेवाला औसत बुद्धि का सामान्य युवक है। वह पढ़ने में कभी तेज नहीं रहा। हमेशा तृतीय श्रेणी या प्रमोशन से पास होता रहा। पर दुकानदार का बेटा होने के कारण

सामान्य व्यावसायिक बुद्धि उसमें अवश्य थी। जिसके बल पर बम्बई की एक कम्पनी में वह चीफ एजेन्ट हो जाता है। बम्बई की चकाचौंध से भरी फैशनेबल जिन्दगी में परमजीत आधुनिकता और फारवर्डनेस का लबादा तो ओढ़ लेता है, परन्तु अपनी संस्कारगत संकीर्ण मनोवृत्ति और मानसिकता को परिवर्तित नहीं कर पाता। वह ऊपर से आधुनिक पर भीतर से एक मध्यकालीन दकियानूसी विचारवाला थोथा–सा युवक बनकर रह जाता है।

परमजीत की इस मानसिकता को समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। वह यह कि प्राध्यापक महोदय ने एक दिन अपने यहाँ लैटेस्ट फैशन का वैनिटीबेग देखा जिसे उस समय के कॉलेजियन युवक–युवती प्रायः प्रयोग में लाते थे। उन्होंनें बैग के सम्बन्ध में अपने घर में पूछताछ की तो ज्ञात हुआ कि वह बैग उनके साले के साले ने यहाँ रखा है। कारण यह था कि दूसरे उस युवक का आठवाँ दिन पड़ता था, और आठवें दिन यात्रा नहीं करते ऐसी जड़–रुढ़ मान्यता को वह तथाकथित आधुनिक फैशनेबल युवक भी मानता था। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह एल.एल.बी. कर रहा था। इसे कहते हैं, मानसिक अधकचरापन – अपरिपक्वता। यहाँ जिस युवक की बात कही गई है वह बाह्यतः आधुनिक होते हुए भी भीतर से नम्बरी दकियानुस है। इस उपन्यास का परमजीत भी एक ऐसा ही युवक है जो बाह्यतः आधुनिकता, फैशन, चकाचौंध को चाहता है, पर भीतर से तो वही ठेठ गँवार दकियानुस व्यक्ति सिद्ध होता है। चीफ एजेण्ट हो जाने के बाद वह सोचता है कि उसका सुन्दर सजा–सजाया घर हो, एक सुन्दर सी बीबी हो, एक–दो बच्चे हों तो फिर क्या कहने। अपने इन्हीं सपनों की पूर्ति के लिए वह बम्बई की ही संजीवनी नामक सुन्दर, सुशील, शिक्षित युवती से प्रेम सम्बन्ध बाँधता है और उससे विवाह भी कर लेता है।

विवाह के बाद उसकी वह तथाकथित ऊपर से आरोपित आधुनिकता नदारत हो जाती है और पुरानी दकियानुसी बातें उसके मनोमस्तिष्क का कब्जा कर लेती है। वह लड़की के कँवारेपन को पुरानी कसौटी पर परखता है। उसने बजारु पुस्तकों में पढ़ रखा था और अपने दोस्तों से भी सुन रखा था कि कंवारी लड़की के झिल्ली होती है। प्रथम संभोग में वह झिल्ली टूटती है, जिससे रक्तस्त्राव होता है। किन्तु परमजीत जब संजीवनी के साथ प्रथम बार संभोग करता है, तब संजीवनी न तो ज्यादा चीखती है, न तो पुकारती है, न तो उसके रक्तस्त्राव होता है।

इससे परमजीत के मन में यह बात बैठ जाती है कि वह संजीवनी के जीवन में आने वाला प्रथम पुरुष नहीं है। यह शंका उसके दिमाग पर बस जाती है और वह संजीवनी से तलाक ले लेता है।

अतः हमारे समाज में लड़की की कौमार्यावस्था के सम्बंध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ सुशिक्षित लोगों में भी पायी जाती है। लड़की की योनि में एक हल्का–सा झीना पर्दा होता है जिसे कुमारीपटल या झिल्ली कहते है। इसके सम्बंध में वैज्ञानिकों की अलग–अलग धारणा है। डॉ. हरकिशनदास गाँधी अपने ग्रंथ 'दाम्पत्य रहस्य' में इस संदर्भ में निर्देशित करते हैं कि संभोग के पश्चात् वीर्य स्त्री योनि के बाहर न निकल पड़े इस हेतु से प्रकृति ने योनिपटल या कुमारीपटल का निर्माण किया होगा। किन्तु आज ये छोटा–सा झीना पर्दा तथाकथित शिक्षित लोगों के लिए भी अभिशाप हो गया है। आज के इस युग में भी कुछ अरब देशों में यह प्रथा है कि लग्न की प्रथम रात्रि में पति–पत्नि एक शयन गृह में जाते हैं। गृह के बाहर रिश्तेदार प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। संभोग के पश्चात् जैसी ही पति बाहर जाता है वे शयनगृह में दौड़ पड़ते हैं और सुहाग–सेज पर योनिपटल के टूटने से पड़े रक्त के धब्बों को देखकर मारे खुशी के नाचने–कुदने लगते हैं। और पत्नी की पवित्रता के सम्बंध में परस्पर बधाईयॉ देते हैं। यदि दुर्भाग्य से सेज पर धब्बे न दिखें तो उस स्त्री को कुलक्षिणी, भ्रष्टा, पतिता और चारित्र्यहीन समझकर निकाल दिया जाता है। ''अतः कौमार्यावस्था में योनिपटल रहना ही चाहिए, यह एक अवैज्ञानिक और तथ्यरहित विचार है। उसकी अनुपस्थिति अपवित्रता का कोई लक्षण कतई नहीं है। पहले लड़कियों के विवाह कम उम्र में सम्पन्न हो जाते थे। तब ऐसा होता होगा, परन्तु अब जब कि लड़कियाँ स्कूलों में जाती हैं, खेलती–कूदती हैं, साइकिल चलाती हैं तथा उनका विवाह बाईस–पच्चीस के बाद होने लगा है, तब भी योनिपटल के सम्बन्ध में वही मध्यकालीन धारणा रखना अज्ञान ही नहीं अपितु असभ्यता का लक्षण समझा जाना चाहिए।'[140]

परमजीत उसी भ्रान्त धारणा का शिकार होता है। संजीवनी से विवाह–विच्छेद करके रमा नामक एक दूसरी लड़की से विवाह करता है। रमा अत्यन्त फूहड़ और कंजूस टाइप की लड़की है। वह इतनी संकीर्ण, स्वार्थी और दकियानुसी है कि अपनी कंजूसी की धुन में परमजीत की अभिरूचि व स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रखती। इन्हीं परिस्थितियों में घुटकर परमजीत की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार रमा अपने घर–परिवार के गणित को सही करने के चक्कर में स्वयं अपने आप को बेघर कर लेती है।

मकान और घर में अंतर होता है। प्रत्येक मकान घर नहीं होता। ईंट, सीमेन्ट, रेत और लोहे से मकान तो कई बना लेते हैं, पर घर बहुत कम लोगों को नसीब होता है। घर का मतलब है सुख–शांति, संतोष प्रेम और विश्वास। संजीवनी के चरित्र पर शंका करके परमजीत उस घर को तो कब से बरबाद कर चुका था। अतः यह केवल रमा के बेघर होने की कहानी नहीं है, संजीवनी और परमजीत के भी बेघर होने की कहानी है। प्रेम केवल भावात्मक आवेगों का नाम नहीं है। प्रेम समझदारी और विश्वास के दो पहियों पर चलता है। ये दो पहिये ही प्रेम की धुरी को आधार देते हैं। परमजीत जीवन की इस धुरी को ही गड़बड़ा देता है और जीवन में यह धुरी जब एक बार गड़बडा जाती हैं, तो फिर उसे संभालना अत्यंत दुष्कर हो जाता है। घर से निकाले जाने के बाद संजीवनी अपने माता–पिता के घर भी कई कष्ट भोगती है, अतः वह आर्थिक स्वतंत्रता पानें के लिए नौकरी करती है। इसमें सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कारण भी सक्रिय रहते हैं। इन कारणों में आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा और परिवार तथा समाज में अपनी अस्मिता की पहचान को लिया जा सकता है। विशिष्ट पहचान बनाने की ललक के मूल में मुख्यतया दो कारण दृष्टव्य हैं। परिस्थितियों का दबाव तथा दूसरे महिला का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए कामकाज करनेवाली महिलाओं के सामने धनाभाव होना आवश्यक नहीं। उनमें प्रायः एक रिक्ति अथवा असंतोष का भाव होता है। पारिवारिक माहौल में वह स्वयं को फिट नहीं कर पातीं। अतः अपने ढंग से जीवन जीने के लिए उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता अर्जित करना अनिवार्य लगता है। ''संजीवनी के नौकरी करने के मूल में यही कारण है। माँ–पिता, भाई–भाभी, भतीजे–भतीजी आदि से भरे घर में भी बेघर होने की अनुभूति संजीवनी को व्याकूल करती है। भाई–भाभी अपने–अपने कारोबार एवं गृहस्थी में व्यस्त हैं। पिता निठल्ले न होकर भी लगभग निठल्ले की संज्ञा पा चुके हैं और माँ है मूक–बधिर। संजीवनी के लिए सोचने का किसी के पास अवकाश नहीं। घर की ढेर–सी वस्तुओं के बीच पड़ी एक और वस्तु है वह भी, जो वहाँ रह तो सकती है, अपने अधिकार के लिए या अवश मां पर किए जा रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकती। कारण, अर्थ से बंधी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे भाइयों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। फलतः स्वावलम्बी होकर माँ की सेवा–सुश्रुषा करने के लिए वह बैंक ऑफ बड़ौदा में नौकरी करने लगती है।''[141] संजीवनी की माँ की दवाओं का बिल देखकर भाभी जिस तरह मुँह बनाती थी, वह संजीवनी को सहन न था। दूसरे पिता के व्यापार को हथिया कर नानूभाई जिस तरह अकड़ता है, और उसकी आय पर भाभी जिस तरह अपना पूर्ण स्वामित्व मानती है, उससे भी संजीवनी तिलमिला जाती है। पैसे–पैसे के लिए भाई–भाभी के सामने हाथ पसारना, घर मे मॉ तथा पिता की उपेक्षा देखना संजीवनी को स्वीकार्य नहीं। अतः

नौकरी करके वह आत्मनिर्भर हो गई है। उसे संतोष है कि अब भाभी न उस पर रौब गाँठ सकती है और न उसके किसी कृत्य की आलोचना कर सकती है। भाभी के अनुशासन से पूर्णतया मुक्त होकर उसे माँ की देखरेख करने का समय भी मिल जाता है और साधन भी।''[142]

इस प्रकार इस उपन्यास में लेखिका ने मध्यवर्गीय शिक्षित मानसिकता को, उसके अन्तर्विरोधों को और उसके रहते निरंतर चलते जीवन संघर्ष को बताया है। यहाँ घर-परिवार के साथ महानगरीय जीवन की आपाधापी, कमरतोड़ महँगाई और उसके कारण टूटते-बिखरते घर-परिवार प्रभृति को भी लेखिका ने एक नया आयाम दिया है। परमजीत और संजीवनी की छोटी दुनिया के समानान्तर महानगर की जीवन संघर्ष की दुनिया भी यहाँ उपस्थित है। ''ममता जी के उपन्यास की छोटी दुनिया बड़ी दुनिया में पूरी तरह से कटी हुई नहीं है।''[143]

अतः कहा जा सकता है कि 'बेघर' में लेखिका पारिवारिक जीवन की निराशाओं, कुण्ठाओं, अन्तर्विरोधों को उसके यथार्थ रूप में समावेश कर सकने में सफल हुई हैं।

दो लड़कियाँ – रजनी पनिकर (1973)

रजनी पनिकर भी हिन्दी की एक सशक्त कथाकार हैं। 'दो लड़कियाँ', 'दूरियाँ', 'महानगर की सीता' उनके नगरीय परिवेश के प्रमुख उपन्यास हैं। जिनमें उन्होंने नगरीय परिवेश के मध्यवर्गीय परिवार की सामान्य समस्याओं को उकेरने की कोशिश की है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने रंजना के माध्यम से मध्यवर्गीय शिक्षित महिला-जीवन की कुछ कड़वी सच्चाईयों को लिया है। जो कि आज के समाज में कई घरों मे व्याप्त है।

इस उपन्यास में रंजना को घर में पिता के जीवित रहते हुए पिता के दायित्वों को वहन करना पड़ता है। फलतः नौकरी उसकी विवशता है और एम.ए. पास रंजना को अपनी योग्यता के अनुसार काम भी नहीं मिलता है। फलतः जो भी नौकरी मिले उसे करने के लिए वह विवश है। वह स्वयं कहती है – ''मैं किसी शौक को पूरा करने के लिए या फैशन पूरा करने के लिए नौकरी नहीं करती। मैं काम इसलिए करती हूँ कि घर की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ। परिवार के लोगों को दोनों समय का भोजन मिल सके।''[144]

अतः प्रारम्भ में वह एक मामूली–सी नौकरी किसी दफतर में करती है। नौकरी के चार साल बाद भी वेतन कुल मिलाकर पाँचसौ रुपया मिलता है। इतनी कम आमदनी में परिवार का निर्वाह कठिन है, अतः विवश रंजना को अतिरिक्त अर्थोपार्जन के लिए देह को माध्यम बनाना ही पड़ता है। उसके जैसी लड़कियों की मानो यही स्थिति होती है। शादी–ब्याह करके घर गृहस्थी बसा नहीं सकतीं। क्योंकि उनकी चेतना उन्हें ऐसा करने से रोकती है कि ऐसा करने पर परिवार के लोग भूखों मर जायेंगे। अतः नौकरी उनकी कमजोरी हो जाती है जिसका फायदा उच्चवर्ग के व्यापारी या अफसर–मैनेजर–बोस किस्म के लंपट लोग उठाते हैं। अतः प्रारम्भ में देह का सौदा उनके लिए लाचारी होता था फिर शरीर की भी अपनी आवश्यकताएँ होती हैं। शरीर की भी अपनी एक माँग होती है? वहाँ स्त्री को कोई समझौता करना ही पड़ता है। दफ्तर या आते–जाते किसी युवक से वह शरीर से जुड़ना चाहती है। निश्चय ही ऐसा युवक कोई विवाहित व्यक्ति ही हो सकता है, क्योंकि अविवाहित तो उसे विवाह करने के लिए प्रेरित करेगा जो उनके लिए कदाचित् सम्भव न हो। समाज में बहुत से लोगों को. पुरुषों को – खाते–पीते वर्ग के हैं – उन्हें भी पत्नी के अतिरिक्त प्रेयसी का एक शौक होता है, कइयों ने तो उसे 'स्पेरव्हिल' का उपनाम तक दे रखा है, ऐसे लोग ऐसी किसी महिला की तलाश में होते हैं। ये लोग प्रेम का खूब नाटक करते हैं और वक्त आने पर ठेंगा दिखाकर खिसक जाते हैं। प्रस्तुत उपन्यास का राजन भी एक ऐसा ही व्यक्ति है। ''रंजना को जीवित रहने के लिए किसी पुरुष का साहचर्य अनिवार्य लगता है। वह जानती है कि विवाहित राजन के लिए वह 'एकान्त की सहचरी' मात्र है।''[145] उसके हृदय–क्षेत्र में प्रवेश पाना उसके लिए सम्भव नहीं। फिर भी एकान्त के क्षणों में विराट से विराटतर होते चले जाने वाले भय और संत्रास से मुक्ति पाने के लिए राजन की बलिष्ठ बाहों का सहारा चाहिए, राजन की बाहों में खोकर दीन–दुनिया के दुःखों को भूल जाने का बहाना चाहिए। ''पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह के लिए वेतन के उपरान्त अतिरिक्त आय चाहिए। इस सोच के कारण रंजना में व्यावसायिक बुद्धि आ गई है और इसके लिए वह अपने शरीर को भुनाती है। सेठ कनोड़िया की प्राइवेट सेक्रेटरी बनाम उपपत्नी बनना भी उसे स्वीकार्य हो जाता है। हाँ, शुरु में थोड़ा मानसिक उहापोह अवश्य होता है।''146 शेठ कनोड़िया की प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में जब उसे एक हजार रुपये वेतन (जो कि उस समय के हिसाब से फोर फिगर्ड में होता था) के अतिरिक्त रहने के लिए मकान, फोन और कार भी मिलती है तो उसका माथा ठनकता है। वह शंकित होती है कि क्या सेठ इस उपकार की कीमत नहीं वसूलेगा? और क्या परिवार की सुख–सुविधा के लिए वह अपने सतीत्व को दाँव पर नहीं लगा देगी? इस दुविधा को वह निरन्तर बनाये नहीं रख सकती। इससे मुक्त होकर कोई निर्णय लेना अनिवार्य है। ''इसलिए जब सेठ मीटिंग के बहाने

दिल्ली से फरीदाबाद ले जाता है और निस्तब्ध गेस्ट हाउस में उसके शरीर से खिलवाड़ करता है तो वह पाषाणवत् उसके सारे व्यवहार झेल जाती है।''[147] तभी रंजना का भाई रवि अपने पिता से प्रश्न करता है कि इस नौकरी के द्वारा क्या वे ''लड़की को कोठे पर बिठाकर वेश्या का पेशा नहीं करवा रहे?''[148] सेठ के यहाँ सेक्रेटरी के पद पर बहिन की नौकरी को चौबीस घण्टे की चाकरी और खुशामद के अलावा कुछ नहीं मानता। रंजना भी इस तथ्य को स्वीकार करती है। ''नौकरी ही की होती तो भी बात थी। यह तो नौकरी के साथ मैंने अपने आपको भी बेच डाला।''[149] रंजना को भय है कि आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर होने की विवशता उस जैसे कच्ची उम्र की लड़कियों को हर ऐसे कुराह पर ले जाती है जहाँ किसी न किसी पुरुष का सहारा लेकर उन्हें उनकी प्राइवेट सेक्रेटरी बनाम उपपत्नी बनना होता है।

उपन्यास का राजन एक छद्म-प्रेमी है। उसकी पत्नी अमीर बाप की बेटी है, अतः आर्थिक लाभ के लिए घर में वह उसके इशारों पर नाचता है और अहम् के तुष्टिकरण के लिए घर से बाहर अपनी प्रेयसी से प्रेम का नाटक करता है। उसका व्यक्तित्व दोहरा है। व्यक्तित्व के इस दोहराव के कारण घर में न वह पत्नी को पूर्णतया सुखी रख पाता है और न बाहर अपनी प्रेयसी को संतुष्ट। रंजना सेठ कनोड़िया की प्राइवेट सेक्रेटरी बन जाती है तब बजाय उसे चेताने के वह खुशी जाहिर करता है कि इन सम्बन्धों से उसे आर्थिक लाभ होगा।

नकली आभूषणों को असली बनाकर बेचने के अभियोग में रंजना के पिता को जब जेल हो जाती है तब पास में धन होते हुए भी वह जमानत देने से साफ इन्कार कर देता है। तब उसका असली रूप सामने आता है। उसी प्रकार रंजना का भाई रवि भी शुरु-शुरु में बड़ी-बड़ी बातें करता है। परन्तु बाद में वह भी धन कमाने के लिए काले धन्धे में शामिल हो जाता है। अपनी बहन रेवती को डैनी के साथ विदेश भेज देता है और स्वयं भी सम्बंध विच्छेद कर अलग रहता है, परंतु रंजना जब सेठ कनोड़िया की सेक्रेटरी बन जाती है तब उससे सम्बंध बढ़ाने की चेष्टा करता है। रवि कहता है – 'यह भी खूब है, खून के रिश्ते भी रुपये-पैसे से तौले जाते हैं, रुपये हैं तो रिश्ते बन जाते हैं, न हो तो कोई नहीं पूछता।''[150]

राजन और कनोड़िया जैसे लोगों को लक्ष्य करके लेखिका ने जो अपनी टिप्पणी दी है वह बिलकुल सही लगती है – ''एक विवाहित पुरुष पहले भी परनारी से प्यार का स्वांग भरता था। आज भी वही है।

लेकिन आजकल यह मनबहलाव की सामाजिक प्रथा बन गया है।''[151] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस उपन्यास में मजबूरी में रंजना को अपना सबकुछ दाँव पर लगाना पड़ता है। वह परिवार के लिए अपना सबकुछ त्याग करती है फिर भी उसको घरवालों की बातें सुनना पड़ती है। लेखिका ने इसे बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

'नावें' – शशिप्रभा शास्त्री (1974)

आधुनिक हिन्दी लेखिकाओं में शशिप्रभा शास्त्री का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। नगरीय परिवेश, उसमें पिसता–जूझता मध्यवर्ग, और उसकी नारी की व्यथा के विविध रुप उनके लेखन के विषय हैं। 'नावें', 'सीढ़ियाँ', 'परछाइयों के पीछे' तथा 'कर्क रेखा' आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

'चुनाव–नाव से पार हो, नेता करते मौज।
'वोटर' को 'वोटर' मिले, कौन करे यह खोज।''

शशि प्रभा जी का यह दोहा व्यंग्यात्मक है और उसमें हमारे राजनेताओं के चरित्र की कुण्डली है, तथापि जीवन में भी प्रायः ऐसा ही होता है कि लोग अपनी यंत्रणाओं के सागर को पार करने के लिए किसी व्यक्ति विशेष का 'नाव' के रूप में प्रयोग करते हैं और अपनी स्वार्थ–पूर्ति के बाद उस नाव को मौजों के हवाले कर न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं।

उपन्यास की नायिका मालती और विजयेश ही ये 'नावें' हैं और इसे स्थिति की विडम्बना ही कहना चाहिए कि दूसरों की स्वार्थ–पूर्ति हेतु नाव बनने वाली मालती स्वयं अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए विजयेश को नाव रूप में इस्तेमाल करती है। इस उपन्यास में नीलिमा (नीलू) को विजयेश के रूप में ऐसा सौतेला बाप मिलता है जो सगे बाप से भी आगे निकल जाता है। हालाँकि अपनी स्थिति को लेकर उसके मन में नीलू के प्रति वितृष्णा है, परन्तु वह अपने कर्तव्य में किसी प्रकार की कसर नहीं छोड़ता, बल्कि खुले मन से अधिकारपूर्वक जब नीलू उससे संरक्षण माँगती है तब वह सोचता है – ''कोई है जिसे मेरी अपेक्षा है''।[152] और वह पत्नी मालती की ओर से निरन्तर उपेक्षा की गर्म हवाओं को झेलने वाला विजयेश नीलू के ही स्नेहपूर्ण प्रस्ताव के आगे समर्पित होते हुए पुनः उस घर तथा मालती से बँधने का निर्णय लेता है।

मालती मध्यवर्ग की उन नारियों में से है जो अपने परिवार के आर्थिक बोझ को उठाने के लिए नौकरी तलाशती हैं और फिर उसकी कृतज्ञता में अपने बॉस या अधिकारी के प्रति समर्पित हो जाती हैं। इस उपन्यास के सोम जी स्त्री के नैतिक शोषण में वे भी कहीं पीछे नहीं हैं। हाँ, उनका रवैया शालीनता की खोल को ओढ़े रहता है। ''दूसरे सोमजी के साहित्यिक व्यक्तित्व एवं विद्वता से स्वयं मालती भी आकृष्ट होती है और अपने शुष्क जीवन की एकरसता को तोड़ने के लिए सोमजी की बाहों का सहारा लेती है। सोमजी का साथ उसे अच्छा लगता है और उनकी सहायिका के रूप में वह ख्याति भी अर्जित करना चाहती है।''[153] मालती के पिता रिटायर्ड हो गये हैं और घर का पूरा निर्वाह मालती की कमाई पर चल रहा है। मालती पिता के जीवित होते हुए भी एक प्रकार से पिता के संपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करती है। घरवालों को मालती की कमाई से मतलब है। वह कहाँ जाती है, क्या करती है, कई–कई दिनों तक गायब क्यों रहती है, इन बातों से उन्हें कोई मतलब नहीं है। मालती भी समाज की परवाह किए बिना अपने ढंग से जीती है। परन्तु जब उसे गर्भ रहता है तब उसका मोहभंग होता है। सोमजी पहले तो उसे गर्भ गिराने के लिए कहते हैं, परन्तु मालती इसके लिए तैयार नहीं होती। उसे अपने किये का कोई पश्चाताप नहीं होता। सोमजी उसे बतौर 'रखैल' रखने को तैयार हैं, पर विवाहिता का दर्जा देने में अपनी विवशता जाहिर करते हैं। मालती को विश्वास था कि उसे घरवाले उसे अपना लेंगे, परन्तु समाज में बदनामी के डर से वे उसे अपनाते नहीं हैं, बल्कि उसकी माँ तो उसका गला दबोचने को तैयार हो जाती है और बहुत सी बातें सुना देती है। पारिवारिक स्वार्थ की परत–परत खुल जाती है। उन्हें उसकी कमाई से मतलब है, उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी के सुख–चैन से उनका कोई सरोकार नहीं है। अतः वह बदायूँ चली जाती है और वहाँ स्कूल की प्रिंसीपल रेखा निगम उसकी सहायता करती है। नीलिमा का जन्म वहाँ होता है। जब उसके स्कूल प्रवेश के समय पिता के नाम की समस्या आती है तब रेखा निगम की ही सलाह से वह विजयेश एक से विवाह कर लेती है। विजयेश एक संयमी, संयत व उदार मतवाले व्यक्ति हैं। और हर प्रकार से माँ–बेटी का ख्याल रखते हैं। परन्तु मालती ही अपनी निजी ग्रन्थियों के कारण विजयेश को सही रूप में नहीं ले पाती।

सोमजी के विश्वासघात, माता–पिता की क्रूरता, नीलू को लेकर विशेष प्रकार की सतर्कता, युवानी में रहे सोमजी से सम्बंध को लेकर 'गुलछर्रे' उड़ाने का अपराध–बोध आदि से मालती का मन मानों मर जाता है और उसमें सेक्स के प्रति एक प्रकार का ठंडापन आ जाता है। एक पुरुष ने उसे छला, उससे विश्वासघात किया, पर उसकी सजा बिचारे विजयेश को क्यों? स्नेह और प्रेम की उष्मा के लिए वह तरसता ही रह जाता है।

अतः विजयेश मालती के दाम्पत्य जीवन में तनावग्रस्तता आ जाती है। यह तनावग्रस्तता दो स्तरों पर दृष्टिगत होती है। ''शरीर के स्तर पर तथा मन के स्तर पर। विवाहित होते हुए भी शारीरिक अतृप्ति का विजयेश को अनुभव होता है। उसे इस बात का भी रंज है कि विवाह के प्रारम्भिक दिनों में भी उसने मालती के समर्पित सहवास को नहीं भोगा।''[154] तनावग्रस्त दाम्पत्य सम्बन्धों ने विजयेश के जीवन से सारी खुशियों को छिन लिया है। विजयेश की वीरान जिन्दगी को लक्षित कर सौतेली पुत्री नीलिमा को भी यह कहने में संकोच नहीं है कि ''एक जोड़ा माँ–बेटी की जिन्दगी को संवारते हुए अपने लिए उन्होंने क्या एक समूचा रेगिस्तान मोल नहीं ले लिया?''[155] और यह शारीरिक अतृप्ति उसके मानसिक परिताप का कारण बनती है। इस ''मानसिक परिताप का उद्घाटन तीन रूपों में हुआ है। सर्वप्रथम, उसमें पश्चाताप की भावना का अंकुरण होता है कि क्यों समाज–सुधार के जोशं में उसने अविवाहित माँ मालती से विवाह कर उसकी पुत्री के पोषण का दायित्व लिया। दूसरे पुत्री नीलिमा के प्रति उसका सारा आक्रोश संचित होता रहता है कि यह न होती तो मालती का दिमाग इतना न बिगड़ता। तीसरे, मानसिक परिताप की चरमावस्था में वह घर छोड़कर कहीं चले जाने का संकल्प करता है।''[156]

परन्तु संयोग से नीलू अप्पाजी (विजयेश) की डायरी कहीं पढ़ लेती है और घर छोड़ने के उनके निर्णय से अवगत हो जाती है। अतः यह त्रासद परिणति को रोकने का दायित्व वह अपने पर लेती है। अपनी स्नेह और अधिकारपूर्ण याचना से वह अप्पाजी को मना लेने में सफल होती है। यहाँ तक कि उन दोनों मे एक प्रकार की अण्डरस्टैंडिंग भी विकसित होती है, पर मालती हमेशा खींची–खींची सी रहती है। नीलू मालती से कहे बिना अजय से विवाह कर लेती है। उस समय मॉ को लिखे पत्र में अप्पाजी का पक्ष लेते हुए वह कहती है – ''यह पाकपन, स्वच्छता–पवित्रता आखिर क्या चीज है? मेरे जन्मदाता सोमजी के साथ अगर परिस्थितिवश तुम्हारा सम्बंध–संपर्क हो भी गया तो क्या हुआ? तुम उसे अस्वाभाविक, विचित्र, घृणास्पद क्यों मानती रहीं।... अप्पाजी के प्रति तुम्हारा निरपेक्ष व्यवहार, उनकी उपेक्षा, उनसे अलगाव मुझे हमेशा कचोटता रहा है। अप्पाजी कितने दुखी रहते हैं, क्या कभी तुमने महसूस नहीं किया ? तुम्हारे और तुम्हारी बेटी के लिए कितना त्याग करते रहे और बदले में उन्होंने क्या पाया? एक जोड़ा माँ–बेटी की जिन्दगी को सँवारते हुए अपने लिए उन्होंने क्या समूचा रेगिस्तान मोल नहीं ले लिया?''[157]

इस तनावग्रस्त दाम्पत्य का प्रभाव या दुष्प्रभाव नीलिमा पर भी पड़ता है। माता–पिता के रहते हुए भी वह स्वयं को अनाथ अनुभव करती है क्योंकि उनके असहज दाम्पत्य सम्बंधों की वह मूक साक्षी व भोक्ता रही है। माँ का अकारण चिढ़े रहना, साथ रहते हुए भी पति से संबंधहीनता बनाए रखना तथा पिता की शारीरिक व मानसिक अतृप्ति तथा उसके कारण उसके पिता की उसके प्रति एक छिपी वितृष्णा उसकी तीव्र दृष्टि से छिपी नहीं रह पाती। अतः उसके मन में अपने माता–पिता का सम्मिलित प्यार न पा सकने की अकुलाहट है। उसकी भटकन और उद्दण्डता का कारण भी यही है। इसलिए बिना बताए वह अजय से विवाह कर लेती है। विवाह के उपरान्त मालती को लिखे एक पत्र से यह सिद्ध हो जाता है – ''तुम्हारी ओर से मुझे बाँधकर रखने की कोशिश, जबरदस्ती सही राह पर चलाने की तुम्हारी ललक के विरुद्ध यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया ही थी।''[158]

इस उपन्यास से यह प्रमाणित हो जाता है कि पूरी तरह से परिवार के आर्थिक बोझ को उठाती हुई मालती परिवार के लिए अपना सर्वस्व त्याग देती है। फिर भी परिवार के लोग उसके प्रति सहानुभूति दिखाने के बजाये उसे घर से निकाल देते हैं। मालती के जीवन का उत्तरार्द्ध उसके पूर्वार्द्ध की प्रतिक्रिया है। वह विजयेश के साथ के विवाह को कभी सहज रूप में नहीं लेती, एक कामचलाऊ व्यवस्था मात्र समझती है। अतः वह स्वयं भी दुखी होती है, विजयेश को भी दुखी करती है और नीलिमा को भी। विजयेश के प्यार को वह सहानुभूति समझती है। प्यार की छलना उसकी चेतना को रेगिस्तान बना देती है। सच ही प्यार भी वही दे सकता है, जिसने उसे पाया हो।

'उस तक' – कुसुम अंसल (1977)

कुसुम अंसल द्वारा प्रणीत 'उस तक' उपन्यास में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के विषय में बताया है। लेखिका ने निम्न मध्यवर्ग की सामाजिक, आर्थिक विषमताओं का वर्णन बड़े ही सजीव तथा सशक्त ढंग से किया है। 'उस तक' उपन्यास की नायिका मुक्ता एक निम्नमध्यवर्गीय युवती है। उसने अपने परिवार की गरीबी को बहुत करीब से देखा है। पिता को गरीबी से जूझते हुए देखा है। गरीबी के कारण उसकी माँ का व्यवहार भी ठीक नहीं है। पिता ने माँ की इच्छा के विपरीत उसे पढ़ाया था। मुक्ता परिवार में रहकर आर्थिक स्वतंत्रता के जरिए अपने लिए स्थान व सम्मान अर्जित नहीं करना चाहती, वरन् परिवार से विद्रोह कर अलग हो जाती है। कारण है माँ के प्रति विद्रोह। ''वैसे देखा जाए तो दोषी प्रतीत होने वाली माँ वस्तुतः दोषी नहीं

है। वह अपने निम्न मध्यवर्गीय संस्कारों, स्वप्नों व सीमाओं में इतनी अधिक बंधी है कि आजीवन पुत्र के स्थान पर तीसरी पुत्री – मुक्ता के जन्म को स्वीकार नहीं कर पाती।''[159] उसकी अपनी फूहड़ता, पुत्रियों की चरित्रहीनता तथा इस सारे माहौल से मुक्ता की विरक्ति परस्पर कार्यकारण श्रृंखला में बँधे हैं। माँ, बहन तथा समूचे माहौल की गिरफ्त से निकल भागने की छटपटाहट के पीछे कोमल वय में उससे किया गया बलात्कार भी है। इस कुत्सित कार्य के पीछे बलात्कारी अनिल जितना दोषी है, उतनी ही दोषी मुक्ता की बहन विद्या भी है, जो मात्र इसलिए मुक्ता को अनिल की वासना का शिकार बनाती है कि मुक्ता कभी पलटकर अनिल–विद्या के अवैध संबंधों पर उंगली न उठा सके। घर तथा गली की संस्कृति में अपने आपको 'मिसफिट' अनुभव करते रहने की पीड़ा मुक्ता को अत्यधिक संवेदनशील, अंतर्मुखी तथा महत्वाकांक्षी बना देती है। ''बेटी नहीं, बेटा बनकर माँ–बाप के दुखों को सोख लेने की आकांक्षा।''[160] के बावजूद वह माँ की कटुता व उपेक्षा को नीलकंठ की भाँति नहीं पी सकती। अतः विद्रोह करके घर से निकल पड़ती है – अकेली, चुपचाप, अनिश्चित भविष्य की ओर। हाथ में नौकरी करने लायक कोई डिग्री नहीं है, तो भी उसका स्वाभिमान इतना गहरा है कि फीस माफ करवाकर, लोन स्कॉलरशिप लेकर, पार्ट–टाईम नौकरियाँ तथा स्टेज नाटकों में अभिनय करके अपनी पढ़ाई पूरी करती है। मुक्ता की यह चारित्रिक दृढ़ता , आत्मविश्वास तथा जीवन में ऊँचा उठने की महत्वाकांक्षा अंततः उसके उन्नत भविष्य के सोपान बन जाते हैं। मुक्ता सामन्तवादी प्रकृति के सतपाल निगम की स्टेनो है। साढ़े तीन सौ रूपये वेतन तथा आवश्यकता की मामूली चीजों के साथ उसने अपना स्वतंत्र जीवन शुरु किया है। भोजन तथा बस–किराए के अतिरिक्त वह अपने वेतन से कुछ भी खरीद पाने की स्थिति में नहीं है। यही मुक्ता बाद में जब सतपाल निगम की आँखों में चढ़ जाती है तो उसका पलट हो जाता है। ''पलंग से लेकर घर और परफ्यूम से लेकर विदेश–भ्रमण तक उसे सतपाल बाबू की कृपा से अनायास अयाचित मिल जाते हैं, किन्तु निःशुल्क नहीं। शुल्क उसे भरना पड़ता है – अपनी शामें तथा देह सतपाल के नाम करके। सतपाल के साथ शाम बिताकर मुक्ता को उसके चेचक के दाग अपनी हथेलियों पर उगते नजर आते हैं।''[161] लेकिन वह अपने को पतन के गर्त में धलेकने से रोक नहीं पाती। कारण, एवज में उसे समृद्धि ही नही मिली, दफ्तर में रुतबा भी मिला है। इस अधिकार के बूते वह सतपाल से बिना पूछे चपरासियों की छुट्टी मंजूर कर देती है, दफ्तर में अपनी बात चलाती है। मुक्ता ने अपने यौवन और सौंदर्य के बल पर सतपाल को अपनी मुट्ठी में किया है, लेकिन वह उसके प्रेम को अर्जित नहीं कर पाई है। वस्तुतः सतपाल प्रेम अर्थात् मानसिक लगाव का अर्थ जानता ही नहीं। इसलिए मुक्ता से उकता कर अन्य युवती खोज लेता है। तब मुक्ता खण्डहर की भाँति स्वयं को वीरान

समझने लगती है। उस पुरुष से सम्बंध विच्छेद उसमें विधवा अथवा परित्यक्ता हो जाने की अनुभूति उत्पन्न करता है। शुद्ध व्यावसायिकता पर टिके इस सम्बन्ध को वह सतपाल की तरह अत्यंत निर्लिप्त ढंग से भूल नहीं पाती। पापिष्ठा होने का अपराध–बोध उसे ग्रस्त कर जाता है जो उसकी समृद्धि, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा मानसिक शान्ति के खोखले पन को उजागर करता है। यहाँ देखा जाता है मुक्ता का व्यवहार पूर्णतया निर्दोष नहीं है, सतपाल की भाँति वह भी अपराधिनी है। जितना सतपाल ने उसे देह समझा है, उतना मुक्ता भी स्वयं को देह समझती रही है। अपनी देह के प्रति उसके आकर्षण को जगाती एवं बढ़ाती रही है। सतपाल का साहचर्य उसे गंदे नाले में पाँव डालने के समान घिनौना लगता है। ऐश्वर्यपूर्वक रहने के लिए वह यह सब स्वीकार करती है। मुक्ता की यह दुर्बलता आधुनिक भौतिकवादी व्यक्ति की दुर्बलता है जो स्वार्थसिद्धि हेतु सही गलत, नैतिक–अनैतिक की विभाजक–रेखा को जानबूझ कर अपने हाथों मिटा देता है। अतः मानसिक संताप या अपराध–बोध के बावजूद मुक्ता परिस्थितियों की शिकार निरीह महिला के रुप में उभरकर नहीं आती, बल्कि अपनी दुर्दशा के लिए किसी अंश तक वह स्वयं उत्तरदायी है। अधिकारी सतपाल निगम से उसके शारीरिक संबंध हैं। इन संबंधों की बदौलत उसने पैसा और रुतबा दोनों पाए हैं। वह जीवन से संतुष्ट है – न प्रसन्न है, न अप्रसन्न। फिर एकाएक वह इन संबंधों की नैतिकता के प्रति शंकित हो उठती है। कारण सतपाल निगम का किसी अन्य युवती को ओर आकृष्ट होना, तथा मुक्ता को वहाँ से उखाड़ने के लिए कलकत्ता स्थानान्तरित करवा देना। मुक्ता के लिए यह मर्मान्तिक आघात है। ''वह सतपाल जैसे कुत्सित व्यक्ति से संबंध रखने के लिए आत्म–भर्त्सना करती है। इन संबंधों के मूल में अपनी मूक स्वीकृति को नजर अंदाज कर 'विवशता' देखती है। परिणामस्वरूप उसे पुरुष मात्र से घृणा हो गई है। पुरुष साहचर्य उसे अभीष्ट नहीं।''[162] ''तभी एक किन्नी नाम की बालिका के सहारे मुक्ता अक्षय से परिचित और आत्मीक होती है। उसकी पत्नी बेला की मानसिक रुग्णता का समाचार जान वह उससे विवाह के स्वप्न संजोने लगती है। लेकिन पत्नी के ठीक हो जाने का समाचार पाकर अक्षय तुरन्त लौट जाता है। पीछे रह जाती है मुक्ता – चिर एकाकीपन की एकमात्र संगिनी मुक्ता।''[163] उसके व्यक्तित्व से आकर्षित होकर कई पुरुष उसके जीवन में आते हैं, पर उसे जान लेने के बाद स्वीकार करने के लिए कोई आगे नहीं बढ़ता है। ये तल्खियाँ उसे भीतर से चकनाचूर कर देती हैं। लेखिका ने निम्न मध्यवर्गी की सामाजिक, आर्थिक विषमताओं का वर्णन बड़े ही सजीव तथा सशक्त ढंग से व्यक्त किया है।

* * * * *

संदर्भिका

1. साठोत्तर हिन्दी उपन्यास : बदलता व्यक्ति : ममता, पृ. 30
2. साठोत्तर हिन्दी उपन्यास : तात्पर्य और पृष्ठभूमि : ममता, पृ. 31
3. साठोत्तर हिन्दी उपन्यास : तात्पर्य और पृष्ठभूमि : ममता, पृ. 37
4 आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद : डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ. 122
5. साठोत्तर हिन्दी उपन्यास : बदलता व्यक्ति : ममता, पृ. 46
6. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : रोहिणी अग्रवाल, पृ. 105
7. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 20
8 दो लड़कियाँ : रजनी पनिकर, पृ. 4
9 छाया मत छूना मन : हिमांशु जोशी, पृ. 11
10. छाया मत छूना मन : हिमांशु जोशी, पृ. 14
11. पतझड की आवाजें : निरूपमा सेवती, पृ. 32
12 अधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 177
13. हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. 1
14. हिन्दी उपन्यास – उपलब्धियाँ : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 9
15. हिन्दी मे अश्क के 'शहर में घूमता आइना' तथा 'एक नन्हीं किन्दील' इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं।
16 गोदान : प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद, प्रथम प्रकाशन, वर्ष 1936
17. गोदान की परख का इतिहास खडा करने का श्रेय प्रायः इन विद्वानों को है – आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि।
18. माध्यम जुलाई 1967 : डॉ रघुवंश, पृ. 10
19. प्रेमचन्द (आज के संदर्भ में) : डॉ. गंगाप्रसाद विमल, पृ 147
20. प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 113
21. त्यागपत्र : जैनेन्द्र, पृ. 60
22. गिरती दीवारें : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ. 12
23 गिरती दीवारें : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ 712
24. गिरती दीवारें : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ. 722
25. गिरती दीवारे : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ. 5
26. उसका बचपन, कृष्ण बलदेव वैद, सरस्वती प्रेस, पृ. 1957
27. आपका बंटी, मन्नु भण्डारी, अक्षर प्रकाशन, 1971
28. उसका बचपन, कृष्ण बलदेव वैद, पृ. 134
29. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 44
30 यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 337
31. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 74
32 यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 336
33 यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ 338
34 यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ 338

35. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 338
36. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 86
37. हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. 397
38. अधूरे साक्षात्कार : नैमिचन्द्र जैन, पृ. 34
39. आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 120
40 अधूरे साक्षात्कार : नैमिचन्द्र जैन, पृ. 34
41 आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 123
42 चादनी के खण्डहर : गिरिधर गोपाल, साहित्य भवन प्रा.लि इलाहाबाद, प्र.स 1954, नवीन संस्करण 1962
43. हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास : प्रेम भटनागर शोध प्रबंध, पृ. 339
44 चांदनी के खण्डहर : गिरिधर गोपाल, पृ. 6
45 चांदनी के खण्डहर : गिरिधर गोपाल, पृ. 51–52
46 लकीरें : ओमप्रकाश श्रीवास्तव, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1955
47. सम्मेलन पत्रिका : साहित्य सस्कृति भाषा विशेषांक, चैत्र मार्गशीर्ष 1894 शक
48 हिन्दी उपन्यास – पहचान और परख : श्रीकान्त वर्मा, पृ. 225
49 अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 28
50. अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 345
51. अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 319
52 अंधेरे बद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 277
53 अधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ 152
54. अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 422
55. लेख – स्त्री विमर्श : व्यक्तिगत सामाजिक होना : डॉ. प्रभा खेतान
56 'वीणा' (मासिक) पत्रिका : अप्रैल 1996, पृ. 212
57 आलोचना : क्रमांक 35 जनवरी 1966, पृ 162
58 शहर में घूमता आइना, समर्पण
59. शहर में घूमता आइना : डॉ. राही मासूम रजा, पृ. 72
60. शहर में घूमता आइना : डॉ राही मासूम रजा, पृ. 408
61. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ. 528
62. कडियॉ : भीष्म साहनी, पृ. 12
63. कडियाँ : भीष्म साहनी, पृ. 33
64. कडियॉ : भीष्म साहनी, पृ. 166
65 कडियाँ : भीष्म साहनी, पृ. 170
66. कड़ियाँ : भीष्म साहनी, पृ. 271
67. टुटती सीमाएँ : राजरानी पाठक, पृ. 45
68. टुटती सीमाएँ : राजरानी पाठक, पृ. 94
69. टुटती सीमाऍ : राजरानी पाठक, पृ. 118
70 टुटती सीमाएँ : राजरानी पाठक, पृ 50
71 तीसरा आदमी : कमलेश्वर, पृ 20

72. तीसरा आदमी : कमलेश्वर, पृ. 82
73 तीसरा आदमी : कमलेश्वर, पृ. 83
74 एलिस बोल्ड़िग, वूमैन इन द ट्वैन्टिस्थ सेन्चुरी वर्ल्ड, पृ. 17
75. भारतीय समाज मे नारी : नीरा देसाई, पृ. 128
76 श्रृंखला की कड़ियॉ : महादेवी वर्मा, पृ. 109
77. रोल कनफ्लिक्ट इन वर्किंग वूमैन : कला रानी, पृ. 62-64
78. मैरिज एण्ड द वर्किंग वूमैन इन इण्डिया : प्रोमिला कपूर, पृ 9
79. श्रृंखला की कडियॉ : महादेवी वर्मा, पृ 13
80 श्रृंखला की कडियॉ : महादेवी वर्मा, पृ. 53
81. रोल कनफ्लिक्ट इन वर्किंग वूमैन : कला रानी, पृ. 101
82. साठोत्तर हिन्दी उपन्यास – बदलता व्यक्ति : ममता, पृ. 16
83 साठोत्तर उपन्यास – तात्पर्य और पृष्ठभूमि : ममता, पृ. 17
84. साठोत्तर उपन्यास – तात्पर्य और पृष्ठभूमि : ममता, पृ. 18
85. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती, पृ. 20
86. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. पारुकान्त देसाई, पृ. 39
87 मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती, पृ. 84
88. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती, पृ. 107
89. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. पारुकान्त देसाई, पृ 39
90 साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ पारुकान्त देसाई, पृ 40
91. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती, पृ. 17
92. हिन्दी लघु उपन्यास : डॉ घनश्याम मधुप, पृ. 177
93. पचपन खम्भे लाल दीवारे : उषा प्रियंवदा, पृ. 109-110
94 पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 31-32
95 साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप : डॉ. विमला शर्मा, पृ. 33
96. पचपन खम्भे लाल दीवारे : उषा प्रियंवदा, पृ 35
97. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ 83
98. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियवदा, पृ. 60
99. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 20
100. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 11
101. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 12
102. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 49
103. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 28
104. पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियंवदा, पृ. 87
105. रुकोगी नहीं राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ. 38
106. रुकोगी नहीं राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ. 35
107 रुकोगी नहीं राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ. 33
108 रुकोगी नही राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ 83-84

109. नरक दर नरक : ममता कालिया, पृ. 48
110. नरक दर नरक : ममता कालिया, पृ. 187
111 नरक दर नरक : ममता कालिया, पृ. 188
112 नरक दर नरक : ममता कालिया, पृ 192
113. नरक दर नरक : ममता कालिया, पृ. 193
114 अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 167
115. अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 142
116 अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 171
117. अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 146
118 अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 171
119. अपने पराये : शशिभूषण सिहल, पृ. 65
120. अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 142
121. अपने पराये : शशिभूषण सिहल, पृ. 73
122. अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 173
123 अपने पराये : शशिभूषण सिंहल, पृ. 178
124. हिन्दी के नगरीय परिवेश के उपन्यासों में मानव–जीवन की समस्याएँ : डॉ. सी.एस. पटेल, शोध प्रबध, म.स. युनि, बड़ौदा, पृ. 143
125 समकालीन उपन्यास अंक दिसम्बर 1991 : मन्नू भण्डारी, पृ. 63
126 आपका बण्टी : मन्नू भण्डारी, पृ 151–152
127 आपका बण्टी : मन्नू भण्डारी, पृ. 203
128. हिन्दी उपन्यास के पदचिह्न : सं मनमोहन, पृ. 333
129 पतझड की आवाजें : निरुपमा सेवती, पृ. 122
130. पतझड की आवाजें : निरुपमा सेवती, पृ. 95
131 पतझड की आवाजें : निरुपमा सेवती, पृ. 52
132. पतझड की आवाजें : निरुपमा सेवती, पृ 53
133. पतझड की आवाजें : निरुपमा सेवती, पृ. 53
134. बटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ 101
135 बंटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ. 97
136 बंटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ 142
137. बंटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ. 93
138. बंटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ. 17
139 बंटता हुआ आदमी : निरुपमा सेवती, पृ. 113
140 दाम्पत्य रहस्य : डॉ हरकिशनदास गाँधी, पृ. 170
141. बेघर : ममता कालिया, पृ. 29
142. बेघर : ममता कालिया, पृ 48
143 हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, डॉ कुवरपालसिंह, पृ. 206
144 दो लडकियॉ : रजनी पनिकर, पृ 4

145. दो लड़कियाँ : रजनी पनिकर, पृ. 31
146. दो लडकियाॅ : रजनी पनिकर, पृ. 8
147. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : रोहिणी अग्रवाल, पृ. 206
148. दो लड़कियाँ : रजनी पनिकर, पृ. 101
149 दो लड़कियाॅ : रजनी पनिकर, पृ. 90
150. दो लडकियाँ : रजनी पनिकर, पृ. 103
151 दो लडकियाॅ : रजनी पनिकर, पृ. 44
152 नावें : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 102
153 नावें : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 15
154 नावे : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 78–79
155 नावें : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 132
156 हिन्दी उपन्यास मे कामकाजी महिला : रोहिणी अग्रवाल, पृ 165
157. नावें : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 133
158 नावें : शशिप्रभा शास्त्री, पृ. 133
159. उस तक : कुसुम असल, पृ 10
160. उस तक : कुसुम अंसल, पृ 21
161 उस तक : कुसुम असल, पृ. 51
162 उस तक : कुसुम अंसल, पृ 72
163. उस तक : कुसुम अंसल, पृ 72

* * * * *